प्रथम संस्करण
१९६०
मूल्य तीन रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

विषय-सूची

परिशिष्ट

प्राक्कथन

बहुत पहलेसे यह इच्छा थी कि जैन ग्रन्थोसे एक ऐसा सङ्कलन तैयार किया जाय, जिसमे जैनधर्मके सभी मूल-मन्तव्य आजाये और जो जैनधर्मके जिज्ञासु किसी भी जैनेतर विद्वान्के हाथमे दिया जा सके। उसी इच्छाके फलस्वरूप यह ग्रन्थ पाठकोके कर-कमलोमे उपस्थित है। इस सङ्कलनका क्या 'नाम' रखा जाय, यह बात एक लम्बे समय तक विचारणीय बनी रही। अन्तमे प्रस्तुत ग्रन्थ-मालाके विद्वान् सम्पादकोने इसका 'जैनधर्मामृत' नाम रखकर मेरे हर्ष और उत्साहको सहस्र-गुणित किया, इसके लिए मै उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

जैनधर्मके जितने भी प्राचीन ग्रन्थ है, वे प्राय अर्धमागधी या शौरसेनी प्राकृतमे रचे गये है और क्योकि यह सङ्कलन सस्कृत भाषाके ग्रन्थोसे करना अभीष्ट था, अत इस ग्रन्थके सङ्कलनमे सस्कृत ग्रन्थोका उपयोग किया गया है। जिन-जिन ग्रन्थोसे श्लोकोका सङ्कलन किया गया है, उनकी तालिका-परिशिष्टमे दे दी गई है। कौन श्लोक किस ग्रन्थके किस अध्याय-का है, इसकी सूचना श्लोकोकी अनुक्रमणिकामे कोष्ठकके भीतर दे दी गई है।

जो पाठक जैनधर्मके ज्ञाता है, उनके लिए यह प्रयास नही है, अपितु उनके लिए है जो कि जैनधर्मके जिज्ञासु है किन्तु जिनके पास इतना समय नही है कि वे जैनधर्मके बडे-बडे ग्रन्थोका अवगाहन कर उन्हे समझ सके। जहाँतक बना है कठिनसे कठिन विषयको सरलसे सरल शब्दोमे प्रकट करने-का प्रयास किया गया है और उन्ही बातोका सङ्कलन और विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थमें किया गया है जिनकी जानकारी सर्व-साधारणजनोके लिए सर्वप्रथम

आवश्यक है। विशेष जिज्ञासुओके लिए प्रत्येक अध्यायके अन्तमे यह सकेत कर दिया गया है कि वे उक्त विषयका विशेष अध्ययन अमुक ग्रन्थोसे करें।

वीर सेवा मन्दिर
२१. दरियागंज, दिल्ली
२१-३-५६

—हीरालाल शास्त्री

ग्रन्थ और ग्रन्थकार-परिचय

जिन ग्रन्थोंके आधारपर जैनधर्मामृतका निर्माण हुआ है, उन ग्रन्थों-का और उनके रचयिताओंका परिचय इस प्रकार है—

१. उमास्वाति और प्रशमरतिप्रकरण

प्रशमरतिप्रकरण—इस ग्रन्थमें प्रशम भाव या वैराग्यको बढ़ाने, उसे स्थिर रखने और संसार-परित्याग कर मुक्तिके मार्गमें आरूढ़ होनेके लिए बहुत सुन्दर उपदेश दिया गया है। इस ग्रन्थके भीतर ३१३ पद्य हैं। यद्यपि ग्रन्थकारने अध्याय आदिका विभाग नहीं किया है, तथापि संस्कृत टीकाकार हरिभद्रसूरिने विषयकी दृष्टिसे इसे २२ अधिकारोंमें विभाजित किया है, जो कि इस प्रकार हैं—

१. वैराग्यभावको दृढ़ करनेका उपदेश,
२. कषायोंकी अनर्थकारिताका चित्रण,
३. आठ कर्मोंका संक्षिप्त वर्णन,
४. कर्मबन्धके कारणोंका विवेचन,
५. पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे प्राप्त होनेवाले दुष्फलोंका निरूपण,
६. आठ मदोंके अनर्थोंका वर्णन,
७. साधुके आचारका उपदेश,
८. साधुके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका उपदेश एवं १२ भावनाओंका प्ररूपण,
९. उत्तम क्षमादि दश धर्मोंका वर्णन,
१०. चार प्रकारकी धर्मकथाओंको सुनने और चार विकथाओंके छोड़नेका उपदेश,

११. जीवादि नव पदार्थोंका उपदेश,
१२. जीवका स्वरूप, उपयोगके भेद-प्रभेद,
१३. जीवके औपशमिकादि भावोंका, तथा द्रव्यात्मा, कषायात्मा आदि आठ मार्गणाओंका निरूपण,
१४. लोकका, सप्ततत्त्वोंका, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका स्वरूप,
१५. सम्यक्चारित्र और उसके भेदोंका निरूपण,
१६. शीलके १८००० भेदोंका वर्णन,
१७. धर्मध्यान और उसके भेदोका वर्णन,
१८. क्षपकश्रेणी और केवलज्ञानकी उत्पत्ति आदिका निरूपण,
१९. केवलि समुद्घातका वर्णन,
२०. योग-निरोध-क्रियाका निरूपण,
२१. अयोगिकेवली और सिद्धोका वर्णन,
२२ श्रावकके बारह व्रतोंका वर्णन,

प्रशमरति प्रकरणकी रचना अत्यन्त सुन्दर, मनोहारिणी एवं प्रशम-प्रदायिनी है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता आ० उमास्वाति-कृत माना जाता है। पं० सुखलालजी आदि श्वे० विद्वानोंने उमास्वातिका समय विक्रमकी प्रथम शताब्दी निश्चित किया है। (देखो---तत्त्वार्थ-सूत्रकी प्रस्तावना) पर दि० पट्टावली आदिसे ज्ञात होता है कि उमास्वाति यतः कुन्दकुन्दान्वयमे हुए हैं, अतः उनका समय विक्रमकी दूसरी शता-ब्दीसे लेकर तीसरी शताब्दी तक पहुँचता है; ऐसा प० कैलाशचन्द्रजी आदि दि० विद्वानोका अभिमत है।

प्रशमरतिप्रकरणपर हरिभद्रसूरिकृत संस्कृत टीका मुद्रित हो चुकी है। इसका हिन्दी अनुवाद पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य, एम. ए. ने किया है। इन दोनोंके साथ मूलग्रन्थका बहुत सुन्दर सस्करण श्रीरायचन्द्र जैन-शास्त्रमालासे सन् १९५० में प्रकाशित हुआ है।

जैनधर्मामृतमें इस ग्रन्थसे ३० पद्य चौदहवें अध्यायमें संग्रह किये गये है।

२. समन्तभद्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार

स्वामी समन्तभद्रने इस ग्रन्थमे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रका सूत्र-शैलीमे संक्षिप्त वर्णन करते हुए श्रावक धर्मका विस्तारसे वर्णन किया है, जो परवर्ती श्रावकाचारोंके लिए आधारभूत सिद्ध हुआ है। समग्र ग्रन्थमें १५० पद्य है, जिन्हें संस्कृत टीकाकार आ० प्रभाचन्द्रने और परवर्ती विद्वानोंने विषय विभागकी दृष्टिसे सात अध्यायोंमे विभक्त किया है, जो कि इस प्रकार है—

प्रथम	परिच्छेद–सम्यग्दर्शनका वर्णन		श्लोक सख्या	४१
द्वितीय	,,	सम्यग्ज्ञानका ,,	,,	५
तृतीय	,,	सम्यक्चारित्र और पंचाणुव्रतोंका वर्णन	,,	२०
चतुर्थ	,,	तीन गुणव्रतोंका वर्णन	,,	२४
पञ्चम	,,	चार शिक्षाव्रतोंका वर्णन	,,	३१
षष्ठ	,,	समाधिमरणका वर्णन	,,	१४
सप्तम	,,	श्रावकके ११ पदों या प्रतिमाओंका वर्णन	,,	१५
			श्लोक	१५०

रत्नकरण्ड-श्रावकाचारको वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमे समन्तभद्र और देवनन्दिके पश्चात् एक अन्य योगीन्द्रकी कृति कहा है, उससे पूर्वकालीन ग्रन्थका कोई उल्लेख नहीं मिलता, आप्तके सम्बन्धमें समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसासे रत्नकरण्डकारका मत कुछ भिन्न है, तथा इसके उपान्त्य पद्यमे श्लेष रूपसे अकलंक, विद्यानन्दि और सर्वार्थसिद्धिका उल्लेख किया गया प्रतीत होता है, इन आधारोंपर डॉ० हीरालाल व कुछ अन्य विद्वान् इसे आप्तमीमांसाकारकी व अकलंक और विद्यानन्दिके काल (८ वीं शती) से पूर्वकी रचना स्वीकार नहीं करते। किन्तु दरबारीलाल

कोठिया और जुगलकिशोरजी मुख्तार इसे आप्तमीमांसाकारकी ही और दूसरी तीसरी शतीकी रचना मानते है ।[1]

स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकके अतिरिक्त आप्तमीमांसा, स्वयम्भू-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, स्तुतिविद्या आदि अनेक ग्रन्थोकी रचना की है, जो कि उनके प्रकाण्ड पाण्डित्यकी द्योतक हैं ।

रत्नकरण्डकसे सम्यग्दर्शन, श्रावकव्रत और समाधिमरण-सम्बन्धी ५७ श्लोक प्रस्तुत ग्रन्थके दूसरे, चौथे और तेरहवे अध्यायमें संगृहीत किये गये हैं ।

रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके अभी तक विभिन्न संस्थाओसे बीसों संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, पर समन्तभद्रके इतिहास और प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीकाके साथ इसका एक सुन्दर संस्करण माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई–४ से विक्रम संवत् १९८२ में प्रकट हुआ है । इस ग्रन्थपर एक विस्तृत हिन्दी टीका स्व० पं० सदासुखजीने आजसे लगभग ९० वर्ष पूर्व लिखी है जो कि जैन ग्रन्थ कार्यालय बम्बई और सस्ती ग्रन्थमाला दिल्लीसे कई बार प्रकाशित हो चुकी है, तथा जिसका मराठी अनुवाद भी जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुरसे प्रकाशित हुआ है ।

३. पूज्यपाद और समाधितन्त्र एवं इष्टोपदेश

'समाधि' क्या वस्तु है और उसके द्वारा यह संसारी प्राणी आत्मासे परमात्मा कैसे बन जाता है, इस बातका बहुत ही सुन्दर विवेचन १०५ श्लोको द्वारा समाधितन्त्रमें किया गया है । इस ग्रन्थसे जैनधर्मामृतके पहले और चौदहवें अध्यायमें ९२ श्लोक संग्रह किये गये हैं ।

---

१. देखिए, अनेकान्त वर्ष ८-९ (१९४४-४५) तथा वर्ष १४ की प्रथम किरणमें डॉ० हीरालाल, पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० जुगलकिशोर मुख़्तारके लेख ।

इष्टोपदेशमें आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिके इच्छुकजनोंको बहुत ही उद्बोधक एवं सुन्दर ढंगसे उनके अभीष्टका उपदेश ५१ श्लोकों द्वारा दिया गया है। इस ग्रन्थसे जैनधर्मामृतके चौदहवे अध्यायमें ३० श्लोकोंका संकलन किया गया है।

उक्त दोनों ग्रन्थोंके रचयिता देवनन्दि अपरनाम पूज्यपाद आचार्य हैं। ये बहुश्रुत विद्वान् थे। इन्होंने अध्यात्म और दार्शनिक ग्रन्थोके अतिरिक्त व्याकरण, सिद्धान्त, वैद्यक आदि विभिन्न विषयोंपर स्वतन्त्र ग्रन्थोकी रचना की है। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि नामसे प्रसिद्ध एक बहुत ही सुन्दर टीका लिखी है, जो कि तत्त्वार्थसूत्रके परवर्त्ती टीकाकारोंके लिए आधारभूत सिद्ध हुई है।

आ० पूज्यपादका समय विक्रमकी पाँचवीं-छठी शताब्दी है। शक सं० ३८८ (वि० सं० ५२३) में लिखे गये मर्करा (कुर्ग) के ताम्र-पत्रमें गंगवंशीय राजा अविनीतके उल्लेखके साथ कुन्दकुन्दान्वय और देशीयगणके मुनियोकी परम्परा दी गई है। अविनीतके पुत्रका नाम दुर्विनीत था और वह पूज्यपादका शिष्य था। दुर्विनीतका राज्यकाल वि० सं० ५३८ के लगभग माना जाता है। अतएव पूज्यपादका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीके उत्तरार्ध और छठी शताब्दीके पूर्वार्धके बीचमें सिद्ध होता है।

समाधितन्त्रपर आ० प्रभाचन्द्रने और इष्टोपदेशपर पण्डितप्रवर आशाधरने संस्कृत टीका लिखी है। इन दोनो टीकाओं और हिन्दी अनुवादके साथ उक्त दोनो ग्रन्थ वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज दिल्लीसे सन् १९५४ में एक ही जिल्दमें प्रकाशित हुए है।

---

१ देखो, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसीसे प्रकाशित सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना पृ० ९६।

४. गुणभद्र और आत्मानुशासन

सासारिक प्रलोभनो और इन्द्रिय-विषयोंमें मूर्च्छित होकर दिन-रात उनकी प्राप्तिके लिए दौड लगानेवाले जीवोको सम्बोधन करनेके लिए आ० गुणभद्रने आत्मानुशासन नामक ग्रन्थकी रचना की है। चारो ओर दौडनेवाली आत्माकी प्रवृत्तियोपर अनुशासन कैसे करना चाहिए, यह बात इस ग्रन्थके अध्ययन करनेपर चित्तमें स्वयमेव अङ्कित हो जाती है।

इस ग्रन्थमे अध्यायोंका विभाग नहीं है। ग्रन्थकी रचना विविध छन्दोमे की गई है। रचना अत्यन्त मनोहारिणी और प्रसादगुण-युक्त है। समस्त पद्य-संख्या २७० है। इस ग्रन्थसे जैनधर्मामृतमें २ श्लोक संगृहीत किये गये है।

आ० गुणभद्रने आत्मानुशासनके अतिरिक्त महापुराणके उत्तरार्ध रूप उत्तरपुराणकी भी रचना की है। गुणभद्र विक्रमकी दशवीं शताब्दीके विद्वान् हैं। गुणभद्रके गुरु आ० जिनसेनने जयधवला टीका शक सं० ७५९ मे समाप्त की और सम्भवतः उसके पश्चात् महापुराणकी रचना प्रारम्भ की। ४२ सर्गोकी रचनाके पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया। लगभग १० हज़ार श्लोकोंकी रचनामें यदि अधिकसे-अधिक १० वर्षका समय भो लगा मान लिया जायँ और उत्तरपुराणकी रचना करनेमें १० ही वर्ष और लगा लिये जायें तो शक सं० ७८० के लगभग उत्तरपुराणकी समाप्तिका काल निर्धारित होता है। इस प्रकार आ० गुणभद्रका समय विक्रमकी नवीं शताब्दीका अन्तिम चरण और दशवीं शताब्दीका प्रथम चरण सिद्ध होता है।

यह ग्रन्थ मूल और हिन्दी अनुवादके साथ अनेकबार अनेक संस्थाओं-से प्रकाशित हो चुका है। हमने निर्णयसागर प्रेस बम्बईकी सनातन ग्रन्थ-मालाके सप्तम गुच्छकमें प्रकाशित मूल प्रतिका उपयोग किया है।

५. महासेन और आप्तस्वरूप

आप्त (सत्यार्थदेव) के विभिन्न नामोंकी निरुक्तिके साथ आप्तके स्वरूपका इस ग्रन्थमें वर्णन किया गया है। रचना बहुत सरल होते हुए भी तर्क-पूर्ण है।

इसके रचयिताका नाम अभी तक अज्ञात ही रहा है। पर नियमसार-के टीकाकार श्री मलधारि पद्मप्रभने अपनी टीकामें महासेनके नामोल्लेखके साथ आप्तस्वरूपका एक श्लोक उद्धृत किया है, जिससे ज्ञात होता है कि आप्तस्वरूपके कर्त्ता आ० महासेन हैं। महासेनके द्वारा रचित 'प्रद्युम्नचरित' काव्य माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ है। इसके अन्तमें ग्रन्थकारने यद्यपि स्व-परिचयात्मक कोई प्रशस्ति नहीं दी है, तथापि प्रत्येक सर्गके अन्तमें "इति श्रीसिन्धुराजसत्कमहामहत्तमश्रीपर्पटगुरोः पण्डितश्रीमहासेनाचार्यस्य कृते प्रद्युम्नचरिते" इतनी पुष्पिका अवश्य पाई जाती है और इसीके आधारपर ऐतिहासिक विद्वान् महासेनको विक्रमकी दशवीं शताब्दीका विद्वान् मानते हैं।

इस ग्रन्थमें कुल ६४ श्लोक हैं जिनमेंसे २२ श्लोक जैनधर्मामृतके प्रथम अध्यायमें संकलित किये गये हैं। यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालासे वि० सं० १९७९ में प्रकाशित सिद्धान्तसारादिसंग्रहमें संगृहीत है।

६. सोमदेव और यशस्तिलकचम्पू

जैनवाङ्मयमें दार्शनिक, सैद्धान्तिक और राजनैतिक विवेचनके साथ व्यक्तिके चरित्रका चित्रण करनेवाला इतना प्रौढ़ एवं अनुपम ग्रन्थ अभी-तक दूसरा दृष्टिगोचर नहीं हुआ। गद्य और पद्य-रचनामें यह ग्रन्थ अपनी समता नहीं रखता।

इस ग्रन्थके रचयिता आ० सोमदेव हैं। इनके यशस्तिलकचम्पूके अतिरिक्त अध्यात्मका प्रतिपादन करनेवाली अध्यात्मतरङ्गिणी और राज-

नीतिका प्रतिपादक 'नीतिवाक्यामृत' ये दो ग्रन्थ और भी प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिसे पता चलता है कि उन्होंने १ युक्तिचिन्तामणिस्तव, २ त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प, ३ षण्णवतिप्रकरण और ४ स्याद्वादोपनिषत् नामक चार ग्रन्थोंकी और भी रचना की है। हमारा दुर्भाग्य है कि चारों ही ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। यदि ये सभी ग्रन्थ उपलब्ध हो जावे, तो सोमदेवकी अगाध विद्वत्ताका हम लोगोंको यथार्थ परिचय मिल सके। फिर भी उनकी विद्वत्ताका बहुत कुछ आभास इन अप्राप्त ग्रन्थोंके नामोंसे हो जाता है।

यशस्तिलकचम्पूमें महाराज यशोधरके चरित्रका चित्रण आठ आश्वासोंमे किया गया है। जिनमेंसे पहलेमें कथावतार, दूसरेमें यशोधरको राज्यतिलक, तीसरेमें राज्यलक्ष्मी विनोद, चौथेमें महारानी अमृतमतीका दुर्विलास, पाँचवेमें भव-भ्रमण, छठेमें अपवर्ग-मार्ग, सातवेंमें सम्यग्ज्ञान और देशचारित्रके पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत, तथा आठवेंमें चार शिक्षाव्रत और उपासक-सम्बन्धी कुछ विशिष्ट कर्त्तव्योंका वर्णन किया गया है। ग्रन्थकारने अन्तिम आश्वासमें श्रावकके आचारका एक विशिष्ट ही ढंगसे वर्णन किया है, जो कि उसके पूर्ववर्त्ती ग्रन्थोंमें दृष्टिगोचर नहीं होता।

यह ग्रन्थ शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) की चैतसुदी १३ को रचा गया है, ऐसा स्वयं ग्रन्थकारने इस ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें लिखा है, अतएव उनका समय विक्रमकी दशवीं शताब्दीका अन्तिम चरण और ग्यारहवीं शताब्दीका प्रथम चरण सिद्ध होता है।

जैनधर्मामृतके दूसरे, चौथे और पाँचवे अध्यायमें यशस्तिलकचम्पूके पाँचवें, छठे और सातवे आश्वासके ४५ श्लोकोंका संग्रह किया गया है।

इस ग्रन्थके प्रथमखण्डका प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस बम्बईकी काव्य-मालासे सन् १९०१ में और द्वितीय खण्डका प्रकाशन सन् १९०३ में हुआ है।

७. अमृतचन्द्र और तत्त्वार्थसार एवं पुरुपार्थसिद्ध्युपाय

तत्त्वार्थसार—दि० और श्वे० सम्प्रदायमें समानरूपसे माने जानेवाले तत्त्वार्थसूत्रको आधार बनाकर उसे पल्लवित करते हुए यद्यपि आ० अमृतचन्द्रने लगभग ७५० श्लोकोंमें इस ग्रन्थकी रचना की है, तथापि अध्यायोंका वर्गीकरण उन्होंने स्वतन्त्र रूपसे किया है। अर्थात् तत्त्वार्थसूत्रके समान तत्त्वार्थसारके १० अध्याय न रखकर केवल ६ अध्याय रखे है, जिसमेंसे पहला अध्याय सप्ततत्त्वोंकी पीठिका या उत्थानिकारूप है और अन्तिम अध्याय उपसंहाररूप है। बीचके सात अध्यायोंमें क्रमशः सातो तत्त्वोंका बहुत ही सुन्दर, सुगम और सुस्पष्ट वर्णन किया है। जैनधर्मामृतके सातवे अध्यायसे लेकर तेरहवे अध्याय तकके सर्व-श्लोक इसी तत्त्वार्थसारसे लिये गये है।

पुरुपार्थसिद्ध्युपाय—मनुष्यका वास्तविक पुरुषार्थ क्या है और उसकी सिद्धि किस उपायसे होती है, इस बातका बहुत ही तलस्पर्शी वर्णन आ० अमृतचन्द्रने इस ग्रन्थमें किया है। यह उनकी स्वतन्त्र कृति है और उसे उन्होंने अपने महान् पुरुपार्थके द्वारा अगाध जैनागम-महोदधिका मन्थन करके अमृत रूपसे जो कुछ प्राप्त किया, उसे इस ग्रन्थमे अपनी अत्यन्त मनोहारिणी, सरल, सुन्दर एवं प्रसाद गुणवाली भाषामें सञ्चित कर दिया है। हिंसा क्या है और अहिंसा किसे कहते हैं इसका विविध दृष्टि-कोणोसे बहुत ही सजीव वर्णन इस ग्रन्थमे किया गया है। इसमें अध्याय विभाग नहीं है। समग्र ग्रन्थकी पद्य संख्या २२६ है। जैनधर्मामृतके दूसरे और चौथे अध्यायमे ८७ श्लोक पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे संगृहीत किये गये हैं।

इन दोनों ग्रन्थोंके अतिरिक्त आ० कुन्दकुन्दके अध्यात्म ग्रन्थ समयसार, पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसारपर भी आ० अमृतचन्द्रने संस्कृत टीका रची है। समयसारकी टीकाके बीच-बीचमे मूलगाथाके द्वारा उक्त,

अनुक्त एवं सूचित किये गये अर्थके उपसंहारात्मक जिन अनेको पद्योंकी विभिन्न छन्दोंमें रचना की है, वे समयसारकलश या नाटक समयसार कलशके नामसे प्रसिद्ध है।

आ० अमृतचन्द्रने अपने किसी भी ग्रन्थमें गुरु परम्परादिका कोई भी परिचय नहीं दिया है। समयसारके अन्तिम कलशरूप पद्यमें केवल अपने नामका निर्देश किया है, किन्तु प्रथम दो ग्रन्थोमें तो उतना भी कोई निर्देश नहीं किया, प्रत्युत लिखते हैं—

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो० २२६

वर्णाः पदानां कर्त्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तॄणि न पुनर्वयम्॥

—तत्त्वार्थसार, ६, २३

इन दोनो पद्योंमे आर्या और अनुष्टुप् श्लोकरूप छन्द-भेदको छोड़कर अर्थ गत कोई भी भेद नही है। आ० अमृतचन्द्रकी इस निरीहता, वीतरागता और प्रसिद्धिसे सर्वथा विलग रहनेकी प्रवृत्ति सचमुच उनके नामके अनुरूप ही है।

आ० अमृतचन्द्रके समय आदिके निर्णयके लिए हमारे पास यद्यपि समुचित साधन उपलब्ध नहीं हैं, तथापि थोड़ी बहुत जो सामग्री सामने आई है, उसके आधारपर कमसे-कम उनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी तो सिद्ध होता ही है। आ० जयसेनने अपने ग्रन्थ धर्मरत्नाकरमें अमृतचन्द्ररचित पुरुषार्थसिद्ध्युपायके लगभग ७० पद्य उद्धृत किये है और जयसेनने अपना यह ग्रन्थ वि० स० १०५५ में बनाया है, ऐसा उसकी प्रशस्तिके अन्तिम श्लोकसे सिद्ध है। अतः इतना निश्चित है कि अमृतचन्द्र इससे पूर्व ही हुए है। कितने पूर्व हुए, इसके निर्णयके लिए हमारे सामने अभी कोई आधार नहीं है।

उपर्युक्त दोनो ग्रन्थोका प्रकाशन उनके हिन्दी अनुवादके साथ अनेक संस्थाओसे हो चुका है। समयसार कलशका प्रकाशन पं० राजमल्लकी प्राचीन हिन्दी वचनिकाके साथ बहुत पहले ब्र० शीतल प्रसादजीके द्वारा सम्पादित होकर जैन विजय प्रिंटिंग प्रेस सूरतसे हुआ है और जो उस समय जैनमित्रके ग्राहकोंको उपहार स्वरूप भी भेंट किया गया था। हमने जैन धर्मामृतमें उक्त दोनों ग्रन्थोका उपयोग सनातन ग्रन्थमालाके सप्तम गुच्छकसे किया है।

८. अमितगति और सं० पंचसंग्रह, अमितगति-श्रावकाचार

प्राकृत पंचसंग्रहको आधार बनाकर उसे पल्लवित करते हुए आ० अमितगतिने अपने संस्कृत पंचसंग्रहकी रचना की है। मूलग्रन्थके समान इस ग्रन्थमे भी उसी नामवाले पॉच अध्याय है, जिनमेंसे प्रथम अध्यायमे २० प्ररूपणाओंके द्वारा जीवोंका और शेष अध्यायोंमे कर्मोंकी विविध अवस्थाओका चौदह मार्गणाओंके द्वारा वर्णन किया गया है। उन अध्यायोंके नाम और उनकी श्लोक-संख्या इस प्रकार है—

१. जीवसमास	श्लोक संख्या	३५३
२. प्रकृतिस्तव	,,	४८
३. बन्धस्तव	,,	१०६
४ शतक	,,	३७५
५. सप्ततिका	,,	४८४

उक्त श्लोक-संख्याके अतिरिक्त पॉचो ही अध्यायोंमें लगभग ५०० श्लोक-प्रमाण गद्य भाग भी है और बीच-बीचमें मूलके अर्थको स्पष्ट करनेवाली अनेकों अंक-संदृष्टियॉ भी हैं। इस ग्रन्थसे जैनधर्मामृतके दूसरे, छठे, सातवें, और दसवे अध्यायमे गुणस्थानोंके स्वरूपवाले २२ श्लोक संगृहीत किये गये हैं।

आ० अमितगतिने एक श्रावकाचार भी रचा है, जो उनके नामपर

'अमितगति-श्रावकाचार'के नामसे ही प्रसिद्ध है। अपने पूर्ववर्ती श्रावकाचारोंको आधार बनाकर या आश्रय लेकर बिलकुल स्वतंत्र रूपसे इन्होंने अपने विस्तृत श्रावकाचारका निर्माण किया है। इसके १५ अध्याय हैं उनका विषय और श्लोक-संख्या इस प्रकार है—

अध्याय	श्लोक-संख्या
१. धर्मका सामान्य स्वरूप और उसका फल-वर्णन	७२
२. मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका स्वरूप और उसके भेद-फलादि	९०
३. सम्यग्दर्शन और सप्ततत्त्वका वर्णन	८६
४. आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि और सम्यग्ज्ञानका वर्णन	९८
५. अष्टमूल गुण और रात्रि भोजनके दोषादिका निरूपण	७४
६. बारह व्रतोंका और सल्लेखनाका निरूपण	१००
७. उनके व्रतोंके अतिचार और ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन	७९
८. सामायिकादि छह आवश्यक और उनके दोषादिका वर्णन	१०९
९. दान, पूजा, शील और उपवासका विस्तृत वर्णन	१०९
१०. पात्र, कुपात्र और अपात्रका वितृत वर्णन	७४
११. पात्र, कुपात्र और अपात्रको दान देनेका फल वर्णन	१२६
१२. जिनपूजा, द्यूतादि सप्तव्यसन, मौन आदिका वर्णन	१३९
१३. सप्त प्रकारके श्रावक, वैयावृत्त्य और स्वाध्यायादि वर्णन	१०१
१४. बारह भावनाओंका विस्तृत वर्णन	८४
१५. ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान-फलका विस्तृत वर्णन	११४

अमितगतिके इसे श्रावकाचारसे जैनधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें ३ श्लोक संकलित किये गये हैं।

आ० अमितगतिने उपर्युक्त दो ग्रन्थोंके अतिरिक्त सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा, भगवती आराधनाका पल्लवित सं० पद्यानुवाद, और भावना द्वात्रिंशतिकाकी भी रचना की है और ये सब ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सार्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति और

व्याख्याप्रज्ञप्ति ये चार ग्रन्थ भी अमितगतिकृत बतलाये जाते हैं, पर ये सब अभी तक अप्राप्य है।

आ० अमितगतिने प्रायः अपने ग्रन्थोंके अन्तमें ग्रन्थ-रचनाका समय दिया है। सुभाषित-रत्नसन्दोहकी रचना वि० सं० १०५० में, धर्मपरीक्षाकी १०७० में और सं० पंचसंग्रहकी १०७३ में की है। इससे सिद्ध है कि इनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी है और ये अपने समयके महान् विद्वानोंमेंसे हैं।

मूल सं० पंचसंग्रह माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालासे सन् १६२७ में और अमितगति-श्रावकाचार अनन्तकीर्त्ति-ग्रन्थमाला बम्बईसे हिन्दी अनुवादके साथ वि० सं० १६७६ में प्रकाशित हुआ है।

६. वादीभसिंह और क्षत्रचूड़ामणि

भ० महावीरके समयमें होनेवाले महाराज सत्यन्धर और उनके पुत्र जीवन्धरको लक्ष्य करके इस चरित्र-प्रधान ग्रन्थकी रचना की गई है। यह सारा ग्रन्थ सुन्दर सूक्तियोंसे भरा हुआ है। क्षत्र चूड़ामणिमें ११ लम्ब हैं और उन सबकी श्लोक-संख्या ७४७ है। उसमेंसे केवल एक श्लोक जैन-धर्मामृतके चौदहवें अध्यायमें संग्रह किया गया है।

क्षत्र-चूडामणिके रचयिता आ० वादीभसिंहने इस नीति-परक सरल रचनाके अतिरिक्त उन्हीं जीवन्धरको लक्ष्य करके ठीक तदनुरूप ११ लम्बोंवाले एक प्रौढ़ गद्य ग्रन्थ गद्यचिन्तामणिकी भी रचना की है जो कि कादम्बरीके ही समान सुन्दर और महत्त्वपूर्ण है। श्री नाथूरामजी प्रेमीके मतानुसार आ० वादीभसिंह विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें हुए हैं[1]।

१—देखो—श्री प्रेमीजी द्वारा लिखित जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२५, (द्वितीय संस्करण)

मूलमात्र क्षत्रचूडामणिका सर्वप्रथम संस्करण कुप्पू स्वामी द्वारा सम्पादित होकर सरस्वती विलास सीरिज तंजोरसे सन् १९०३ में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् अब तक इस ग्रन्थके अनेक संस्करण हिन्दी अनुवादके साथ विभिन्न संस्थाओंसे निकले है।

१०. शुभचन्द्र और ज्ञानार्णव

संसारके विषय-भोगोमे आसक्त जीवोको सम्बोधन करते हुए इस ग्रन्थमें मुनिधर्मका बहुत ही सुन्दर ढंगसे विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। साथ ही संसारसे विरक्ति बनी रहनेके लिए अनित्य-अशरण आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओंका, तथा धर्ममें दृढ़ता स्थिर रखनेके लिए ध्यान, ध्याता, ध्येय और उनके विविध अंगोका बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थमें ४२ प्रकरण है और उनकी समग्र श्लोक-संख्या दो हज़ारसे भी अधिक है। ध्यानके विविध अंगोंका जैसा विशद एवं अनुपम वर्णन इस ग्रन्थमें किया गया है, वैसा अन्यत्र बहुत कम मिलेगा। ग्रन्थकारने ध्यान और समाधिसे सम्बन्ध रखनेवाले अपनेसे पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थोंके बहुभाग श्लोकोका और उनके विषयोका इस ग्रन्थकी रचनामें भरपूर उपयोग किया है। इस ग्रन्थका तेईसवाँ और बत्तीसवाँ प्रकरण पूज्यपादके इष्टोपदेश और समाधितन्त्रके स्पष्टतः आभारी है। इसी प्रकार बारह भावनाओंवाले सभी प्रकरण स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा और बारहअणुवेक्खाके आभारी हैं और इस प्रकार यह ज्ञानार्णवमें अनेक ग्रन्थरूप नदियोका अपने भीतर समावेश करता हुआ सचमुच अपने नामको सार्थक करता है। जिज्ञासु और धर्मपिपासु जनोके लिए यह वास्तविक ज्ञानार्णव है, भेद केवल इतना ही है कि जलके उस समुद्रका पानी खारा होता है, जब कि इस ज्ञानार्णवका जल अमृतके तुल्य मधुर, हितकर और व्यक्तिको जन्म-जरा-मरणादि महारोगोसे छुडाकर सदाके लिए नीरोग एवं अमर बना देनेवाला है। जिन पुरुषोने इस ज्ञानार्णवमें अवगाहन

किया है, वे पूर्ण ज्ञानी बनकर सदाके लिए अजर और अमर बन गये हैं।

इस ग्रन्थके रचयिता आ० शुभचन्द्र हैं। इनका समय श्रीप्रेमीजीने विभिन्न आधारोंसे विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध किया है। कलिकाल-सर्वज्ञ कहे जानेवाले श्वे० विद्वान् हेमचन्द्राचार्यने अपने योगशास्त्रकी रचना विक्रम सं० १२०७ और १२२९ के बीचमें की है। और यतः ज्ञानार्णवके श्लोक उसमें पाये जाते है, अतः सिद्ध है कि शुभचन्द्र इनसे पूर्व हुए है। तथा ज्ञानार्णवमें अमृतचन्द्राचार्यकी पुरुषार्थसिद्ध्युपायके श्लोकको 'अयं च' करके उद्धृत किया है, इसलिए वे अमृतचन्द्रसे पीछे हुए है। इस प्रकार ज्ञानार्णवके कर्त्ता आ० शुभचन्द्रका समय विक्रम सं० १०५५ और १२०७ के मध्यमें सिद्ध होता है[1]।

ज्ञानार्णवके विभिन्न अध्यायोंके ३२ श्लोक जैनधर्मामृतके पहले, तीसरे और चौथे अध्यायमें संकलित किये गये है। इतना विशेष रूपसे ज्ञातव्य है कि जैनधर्मामृतके पहले अध्यायमे मगलाचरण रूप पहला श्लोक भी ज्ञानार्णवका ही है।

यह ग्रन्थ पं० पन्नालालजी बाकलीवालके हिन्दी अनुवादके साथ रामचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे सन् १९०७में प्रकाशित हुआ है।

११. वीरनन्दि और आचारसार

आचारसार—मुनियोंका आचार-विहार आदि कैसा होना चाहिए, उनके मूलगुण और उत्तरगुण कौन-कौनसे हैं, इत्यादि बातोंका विवेचन इस ग्रन्थमें किया गया है। आचारसारकी रचना और वर्णन-शैलीको

---

१. देखो, प्रेमीजीका जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ३३२ आदि (द्वि० संस्करण)

देखनेसे ज्ञात होता है कि इसका आधार मूलाचार रहा है। आचारसारमें १२ अधिकार हैं। उनके नाम और श्लोक-संख्या इस प्रकार है—

अधिकार	श्लोक-संख्या
१. मूलगुणाधिकार	४६
२. समाचाराधिकार	९४
३. दर्शनाचाराधिकार	७५
४. ज्ञानाचाराधिकार	६७
५. चरित्राचाराधिकार	१५१
६. तपाचाराधिकार	१०२
७. वीर्याचाराधिकार	२६
८. शुद्ध्यष्टकाधिकार	८४
९. षडावश्यकाधिकार	१०१
१०. ध्यानाधिकार	६३
११. जीव-कर्माधिकार	१६०
१२. दश-धर्म-शीलाधिकार	३३

इस ग्रन्थके रचयिता आ० वीरनन्दि हैं। ये आ० मेघचन्द्रके शिष्य हैं। वीरनन्दिने आचारसारके अन्तमें अपने गुरुकी बहुत प्रशंसा की है। एक पद्यसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इनके गुरु गृहस्थाश्रमके पिता भी हैं। श्रवणवेलगोलके शिलालेखोंमें आ० वीरनन्दिकी बहुत प्रशंसा की गई है, जिससे विदित होता है कि ये बहुत भारी विद्वान् थे और सिद्धान्त-चक्रवर्तीके पदसे भी विभूषित थे। इन्होंने आचारसारके अतिरिक्त अन्य किस ग्रन्थकी रचना की है, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। यद्यपि वीरनन्दिने ग्रन्थके अन्तमें अपना कोई समय नहीं दिया है तथापि जिस ढंगसे उन्होंने अपने गुरुका स्मरण किया है, उससे ज्ञात होता है कि आचारसारकी रचना समाप्त होनेके समय तक उनके गुरु विद्यमान थे। श्रवणवेलगोलके शिलालेख नं० ४७–५० और ५२ से ज्ञात होता है कि

मेघचन्द्रका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ (वि० सं० ११७२) में हुआ। तदनुसार वीरनन्दिका समय विक्रमकी बारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध सिद्ध होता है।

जैनधर्मामृतके पाँचवें अध्यायमें मुनियोंके २८ मूलगुणोंका वर्णन इसी आचारसारके प्रथम अध्यायसे किया गया है। यह ग्रन्थ भी माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे वि० सं० १९७४ में पं० इन्द्रलालजी शास्त्रीसे सम्पादित और पं० मनोहरलालजी शास्त्रीसे संशोधित होकर प्रकट हुआ है।

१२. हेमचन्द्र और योगशास्त्र

योगशास्त्र—इस ग्रन्थमें योग या ध्यानका वर्णन करनेके साथ मुनि और श्रावक धर्मका विस्तारसे विवेचन किया गया है। इसके रचयिता आ० हेमचन्द्र हैं, जो कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके एक महान् आचार्य हुए हैं। इन्होंने गुजरातके तत्कालीन शासक कुमारपालको सम्बोधित करके जैनधर्मका महान् प्रचार किया है। हेमचन्द्रने धर्मशास्त्रके अतिरिक्त व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विविध विषयोंपर अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है।

योगशास्त्रमें १२ प्रकाश हैं, जिनमें क्रमशः योगका माहात्म्य एवं त्रयोदश प्रकार चारित्र, सम्यक्त्व, पञ्चाणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत, द्वादश अनुप्रेक्षा एवं मैत्री आदि भावनाओंका स्वरूप, प्राणायाम, ध्यान, धारणादिका स्वरूप, ध्यानकी सिद्धि एवं पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत धर्मध्यानका स्वरूप, शुक्लध्यानका स्वरूप, आत्मा और योगी आदिका वर्णन किया गया है। योगशास्त्रके समस्त श्लोकोंकी संख्या ९८८ है। योगशास्त्रकी रचना आ० शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवकी आभारी है। ज्ञानार्णवके अनेकों श्लोक साधारणसे शब्द-भेदके साथ योगशास्त्रमें ज्योंके त्यों पाये जाते हैं।

आ० हेमचन्द्र वि० सं० १२२९ तक जीवित रहे हैं और इसके पूर्व

इन्होंने अपने ग्रन्थोंकी रचना की है, अतएव उनका समय विक्रमकी बारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध और तेरहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है।

जैनधर्मामृतके पहले दूसरे और चौथे अध्यायमें मैत्री आदि भावनाओंके तथा हिंसादि पापोंके फल-निरूपक २३ श्लोक योगशास्त्रसे संग्रह किये गये हैं।

योगशास्त्रका प्रकाशन गुजराती अनुवादके साथ निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे सं० १८६६ में हुआ है। इसके अतिरिक्त मूल और हिन्दी अनुवादके साथ अन्य भी अनेक प्रकाशन विभिन्न संस्थाओंसे हुए है।

१३. आशाधर और सागारधर्मामृत

सागारधर्मामृत—सागार अर्थात् गृहस्थका धर्म क्या है, उसे किन-किन व्रतोंका किस रीतिसे पालन करना चाहिए, उसकी दिनचर्या कैसी होनी चाहिए और जीवनके अन्तमें उसे क्या करना चाहिए, आदि बातोंका इस ग्रन्थमें बहुत ही विशद वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थके रचयिता पण्डित-प्रवर आशाधर अपने समयमें एक बहुश्रुत विद्वान् हुए हैं। उन्होंने अपनेसे पूर्ववर्ती समस्त श्रावकाचारोंका मन्थन करके जो अमृत निकाला, वही इस ग्रन्थरूप पात्रमें भर दिया है। पं० आशाधरजीने धर्म, न्याय, साहित्य, वैद्यक आदि विविध विषयोंपर लगभग २० प्रौढ़ ग्रन्थोंकी रचना की है। अपने कितने ही ग्रन्थोंकी दुरूहताको अनुभव कर आपने स्वयं ही उनपर स्वोपज्ञ टीकाएँ भी लिखी हैं।

सागारधर्मामृतमें आठ अध्याय हैं, जिनका विषय-परिचय और श्लोक-संख्या इस प्रकार है—

अध्याय	श्लोक-संख्या
१. सागार धर्मका सूचनात्मक सामान्य वर्णन	२०
२. अष्ट मूलगुण, पूजा-भेद, दान-दत्ति आदि	८७
३. दर्शन-प्रतिमा, सप्त-व्यसन-अतिचार आदि	३२

जैनधर्मामृतके चौथे अध्यायमें सागारधर्मामृतका केवल एक श्लोक संग्रह किया गया है।

पं० आशाधरजीने जिनयज्ञकल्प वि० सं० १२८५ में, सागारधर्म-टीका १२९६ में और अनगार धर्म-टीका १३०० में समाप्त की है। अनगारधर्मामृतकी प्रशस्तिमें उन्होंने अपने द्वारा रचे गये प्रायः सभी ग्रन्थोका उल्लेख किया है, इससे ज्ञात होता है कि उनकी रचना वे वि० सं० १३०० के पूर्व ही कर चुके थे। इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि उनका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध है।

सागारधर्मामृत सर्व-प्रथम माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे स्वोपज्ञ संस्कृत टीकाके साथ वि० सं० १९७२ में प्रकाशित हुआ है, इसके पश्चात् इसके हिन्दी-मराठी अनुवाद भी विभिन्न संस्थाओंसे प्रकाशित हुए हैं।

१४. वामदेव और संस्कृत भाव-संग्रह

आ० देवसेनके प्राकृत भावसंग्रहके आधारपर पं० वामदेवने अपने संस्कृत भावसंग्रहकी रचना की है। ये अनुमानतः विक्रमकी पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दीके विद्वान् जान पड़ते हैं। इनके द्वारा प्रतिष्ठा सूक्त संग्रह, त्रिलोक दीपिका, श्रुतज्ञानोद्यापन आदि और भी अनेक ग्रन्थ रचे गये सुने जाते हैं, पर जब तक ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो जाते, तब तक उनके विषयमें निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। पं० वामदेवका विशेष परिचय 'भावसंग्रहादि'की प्रस्तावनामें दिया गया है। इस ग्रन्थका प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे वि० सं० १९७८ में हुआ है।

इसके सम्पादक पं० पन्नालालजी सोनी है। इस ग्रन्थमे ७८२ श्लोक हैं। उनमेंसे मूढ़ता आदिके स्वरूप-प्रतिपादक १४ श्लोक जैनधर्मामृतके पहले और दूसरे अध्यायमें संगृहीत किये गये है।

१५. गुणभूषण और उनका श्रावकाचार

श्री गुणभूषणने रत्नकरण्ड, वसुनन्दि-उपासकाध्ययन आदि अपने पूर्ववर्ती श्रावकाचारोंके आधारपर अपने श्रावकाचारकी रचना की है। उन्होने अपने ग्रन्थका नाम यद्यपि 'भव्यजनचित्तवल्लभश्रावकाचार' रखा है, पर यह नाम लम्बा अधिक था, अतः सर्व-साधारणमें प्रचलित नहीं हो सका और अमितगति, वसुनन्दि आदिके श्रावकाचारोंके समान ही यह भी उसके कर्त्ताके नामसे प्रसिद्ध हो गया। इसके तीन उद्देश्योंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और श्रावक-धर्मका २६९ श्लोकोंके द्वारा बहुत ही सरल ढंगसे वर्णन किया गया है। यद्यपि गुणभूषणने अपने ग्रन्थके अन्तमें अपनेको त्रैलोक्यकीर्ति मुनिका शिष्य कहा है, पर इतने मात्रसे उनके समय आदिका निर्णय करना कठिन है। अनुमानतः इनका समय विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दी जान पड़ता है। इस ग्रन्थका प्रकाशन चन्दाबाड़ी सूरतसे हुआ है।

जैनधर्मामृतके सातवें अध्यायमें गुणभूषणश्रावकाचारसे केवल एक श्लोक संगृहीत किया गया है।

१६. राजमल्ल और पञ्चाध्यायी

पञ्चाध्यायी—जैन दर्शनका यह एक महान् ग्रन्थ है, जिसे उसके रचयिता पं० राजमल्लजीने स्वयं ही 'ग्रन्थराज' कहा है। यद्यपि यह ग्रन्थराज हमारे दुर्भाग्यसे पूरा नहीं रचा जा सका है, तथापि आज इसका जो प्रारम्भिक डेढ़ अध्याय उपलब्ध है, वह भी बहुत विस्तृत है। इसके प्रथम अध्यायमें सत्, द्रव्य, गुण, पर्याय आदिका, तथा नयों

और उपनयोंके स्वरूपका ७६८ श्लोकोके द्वारा, तथा दूसरे (अधूरे) अध्यायमें सम्यग्दर्शन और उसके आठों अंगोंका ११४५ श्लोकोंके द्वारा जिस अपूर्व ढंगसे युक्ति-प्रत्युक्तियोके द्वारा पाण्डित्य-पूर्ण विवेचन किया गया है, वह अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। पं० राजमल्लजी विक्रमकी सतरहवीं शताब्दीके विद्वान् हैं। ये मुग़ल सम्राट् अकबरके समयमें हुए हैं, यह बात इनके अन्य ग्रन्थोंमें दिये गये अपने परिचयसे सिद्ध है। पं० राजमल्लजीने पञ्चाध्यायीके अतिरिक्त लाटी संहिता, जम्बूस्वामिचरित और अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड नामक तीन ग्रन्थोकी और भी रचना संस्कृतमें की है, तथा कुन्दकुन्दाचार्यके समयसारकी अमृतचन्द्राचार्य-रचित आत्म-ख्याति टीकाका आश्रय लेकर उसके कलश-श्लोकोंकी हिन्दी वचनिका भी की है जो अनेक वर्ष पूर्व चन्दावाड़ी सूरतसे मुद्रित होकर 'जैनमित्र'के उपहारमें दी गई है।

जैनधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें पञ्च-परमेष्ठीके स्वरूपवाले ३२ श्लोक पञ्चाध्यायीसे संगृहीत किये गये हैं।

पञ्चाध्यायीका एक मूल संस्करण बहुत पहले गान्धी नाथारंगजी ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ था। पश्चात् इसके दो संस्करण हिन्दी अनुवादके साथ प्रकट हुए हैं, जिनमेंसे एकके अनुवादक पं० मक्खनलालजी शास्त्री और प्रकाशक पं० लालारामजी शास्त्री हैं। यह संस्करण सन् १९१८ में प्रकट हुआ, जो अब अप्राप्य है। दूसरा संस्करण स्व० पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्रीके हिन्दी अनुवादके साथ गणेश वर्णी-ग्रन्थमाला भदैनी वाराणसीसे सन् १९५० में प्रकट हुआ है। इसके सम्पादक पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री हैं।

१७. कुलभद्र और सारसमुच्चय

सारसमुच्चयका अध्ययन करनेपर ऐसा प्रतीत होता है मानो इसके रचयिताने अपने सामने उपस्थित वैराग्य-प्रधान प्राकृत-संस्कृत जैन ग्रन्थोंका

सार ही अपनी इस रचनामें निबद्ध कर दिया है। रचना अत्यन्त सरल, सरस एवं वैराग्य भावको उत्पन्न करनेवाली है। इसमें अध्याय आदिका विभाग नहीं है। पूरे ग्रन्थमें ३२८ श्लोक हैं। जैनधर्मामृतके प्रथम अध्यायमें सारसमुच्चयके २ श्लोक संगृहीत किये गये हैं।

सारसमुच्चय-ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारने अपनी कोई प्रशस्ति नहीं दी है, जिससे कि उनके विषयमें कुछ विशेष जाना जा सके। केवल ३२५ वें श्लोकमें अपने नामका उल्लेख अवश्य किया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

अयं तु कुलभद्रेण भवविच्छित्तिकारणम्।
दृब्धो बालस्वभावेन ग्रन्थः सारसमुच्चयः॥

इस श्लोकसे ग्रन्थ और ग्रन्थकारके नामके अतिरिक्त और कुछ विशेष परिचय नहीं मिलता है। इसलिए उनके समय आदिके निर्णयके लिए मेरे पास कोई समुचित साधन नहीं है।

यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' में प्रकट हुआ है। इस ग्रन्थका केवल एक श्लोक जैनधर्मामृतके प्रथम अध्यायमें संग्रह किया गया है।

जैनधर्मामृत

•

• प्रथम अध्याय : संक्षिप्त सार •

सर्वप्रथम धर्मको नमस्कार करते हुए धर्मका स्वरूप बतलाया गया है और यह निर्देश किया गया है कि धर्मकी प्राप्तिके लिए आत्माका जानना आवश्यक है। उस आत्माके तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जिस जीवकी दृष्टि बाहरी पदार्थोंमें आसक्त है, बाह्य वस्तुओंको ही अपनी समझता है और शरीरके जन्म-मरणको ही अपना जन्म-मरण मानता है, उसे बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जिसकी दृष्टि बाहरी पदार्थोंसे हटकर अपने आत्माकी ओर रहती है, जिसे स्व-परका विवेक हो जाता है, जो लौकिक कार्योंमें अनासक्त और आत्मिक कार्योंमें सावधान रहता है, उसे अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि कहते हैं। अन्तरात्माके भी तीन भेद हैं। जो व्रत-शील आदि तो कुछ भी नहीं पालन करता, किन्तु जिसकी मिथ्या दृष्टि दूर हो गई है और जिसे सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो गई है, ऐसे सम्यक्त्वी या सम्यग्दृष्टिको जघन्य अन्तरात्मा कहते हैं। जो सम्यग्दृष्टि होनेके साथ गृहस्थके उचित व्रत-नियमादिका भी पालन करता है और न्यायपूर्वक धनोपार्जन करते हुए दान-पूजादि सत्कार्योंमें उसका सदुपयोग करता है, ऐसे गृहस्थ श्रावकको मध्यम अन्तरात्मा कहते हैं। जो व्यक्ति घर-बारका परित्याग कर और साधु जीवन अंगीकार करके एकमात्र आत्म-स्वरूपकी साधनामें तत्पर रहता है, वह उत्तम अन्तरात्मा है। जो इस उत्तम अन्तरात्माकी

सर्वोच्च दशामें पहुँच कर अपने सर्व आन्तरिक विकारोंका अभाव कर परम कैवल्यको प्राप्त कर लेता है, उसे परमात्मा, केवली, जिन, अरहंत, स्वयम्भू, ब्रह्मा, शिव, शंकर आदि नामोंसे पुकारते हैं। परमात्माके इन नामोंका वास्तविक अर्थ क्या है, यह बात इस अध्यायके अन्तमें बतलाई गई है।

संसारके बहुभाग प्राणी बाहरी पदार्थोंके संयोग-वियोगमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पनाकर सुख-दुःखका अनुभव कर रहे हैं। किन्तु बाह्य पदार्थोंका संयोग-वियोग हमारे आधीन नहीं है, कर्मोंके आधीन है और कर्मोंका उदय सदा एक-सा किसीके रहता नहीं है। जो लोग इस वस्तुस्थितिको नहीं जानकर बाह्य वस्तुओंको ही अपनानेमें संलग्न हैं, उन्हें बहिरात्मा कहा गया है। महर्षियोंने इस बहिरात्मापनको छोड़कर अन्तरात्मा होनेका उपदेश दिया है। बहिरात्म-दशाके दूर होने और अन्तरात्म-दशाके प्रकट होनेपर मनुष्यकी चञ्चल मनोवृत्ति शान्त हो जाती है, पर-पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना दूर हो जाती है और यह आत्मा एक अलौकिक आनन्दका अनुभव करने लगता है। ज्यों-ज्यों यह अन्तरात्मा आत्म-विकास करता हुआ संकल्प-विकल्पातीत परमात्माका ध्यान करके तद्रूप होनेकी भावना करता है, त्यों-त्यों वह परमात्मपदके समीप पहुँचता जाता है और अन्तमें एक दिन वह स्वयं अक्षय अनन्त गुणका स्वामी होकर आत्मासे परमात्मा बन जाता है।

प्रथम अध्याय

पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत् ।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ॥१॥

जो जगत्को पवित्र करे, संसारके दुखी प्राणियोंका उद्धार करे, उसे धर्म कहते है। वह धर्म दया-मूलक है और कल्प वृक्षके समान प्राणियोंको मनोवाञ्छित सुख देता है; ऐसे धर्मरूप कल्प-वृक्षके लिए मेरा नमस्कार है ॥१॥

इस मङ्गलात्मक पद्यमें धर्मका स्वरूप बतला करके उसे नमस्कार किया गया है। धर्मके जितने लक्षण किये गये है, प्रायः उन सबका सूत्र रूपसे इस एक ही पद्यमें समावेश किया गया है। धर्मके मुख्य रूपसे चार लक्षण माने जाते हैं—१ 'इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः', २ 'संसार-दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे', ३ धर्मो नाम दयामूलः' और ४ 'यस्मादभ्युदय-निश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। पद्यके पूर्वार्ध-द्वारा आदिके दो लक्षणोंका, 'दयार्द्राय' पदके द्वारा तीसरे लक्षणका और कल्पवृक्षकी उपमा देकर चौथे लक्षणका संग्रह कर दिया गया है। इस प्रकार यह फलितार्थ हुआ कि जो पतितों-को पवित्र करे, संसार-सागरमें निमग्न या भवाटवीमें भटकनेवाले दुखी प्राणियोंका उद्धार करे, उन्हें सुखास्पद रूप इष्ट स्थानमें पहुँचावे और उनके अभ्युदय (लौकिक सुख) तथा निश्रेयस (लोकोत्तर अतीन्द्रिय सुख) की सिद्धि करे, उसे धर्म कहते हैं।

धर्मका इतना स्वरूप जान लेनेके पश्चात् स्वभावतः यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वह धर्म क्या वस्तु है ? इसका उत्तर श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें दिया है कि मोह और क्षोभसे रहित आत्माके समभाव या प्रशान्त परिणामको धर्म कहते हैं। यहाँ मोहसे अभिप्राय रागका है और क्षोभसे द्वेषका अभिप्राय है। प्रत्येक प्राणीके अनादि संस्कारके वशसे राग-द्वेषकी प्रवृत्ति चली आ रही है। जहाँ यह एकसे राग करता है, वहीं वह दूसरेसे द्वेष भी करने लगता है। इसीलिए महर्षियोंने रागद्वेषको मोह-सम्राट्के दो प्रधान सेनापति या संसार-रूप भवनके आधार-भूत प्रधान स्तम्भ कहा है। जो जीव राग-द्वेषसे छूटना चाहते हैं और धर्मको धारण करना चाहते हैं उन्हें सबसे पहले आत्म-स्वरूपका जानना आवश्यक है; क्योंकि आत्म-स्वरूपके जाने विना दुःखोंसे या राग-द्वेषसे मुक्ति मिलना संभव नहीं है।

यही बात आचार्य आगेके पद्य-द्वारा प्रकट करते हैं :—

अतः प्रागेव निश्चेयः सम्यगात्मा मुमुक्षुभिः।
अशेषपरपर्यायकल्पनाजालवर्जितः ॥२॥

जो सांसारिक दुःखोंके प्रधान कारणभूत राग-द्वेषसे मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें सबसे पहले समस्त पर-पर्यायरूप कल्पना-जालसे रहित अपनी आत्माका निश्चय करना चाहिए ॥२॥

त्रिप्रकारं स भूतेषु सर्वेष्वात्मा व्यवस्थितः।
बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्वक्ष्यमाणकैः ॥३॥

वह आत्मा सर्व प्राणियोंमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा रूप तीन प्रकारसे अवस्थित है। इन तीनोंके भेद आगे कहे जावेंगे॥३॥

भावार्थ—प्रत्येक प्राणीमें जो जानने-देखनेकी शक्तिसे सम्पन्न जीवन-तत्त्व पाया जाता है, उसे ही आत्मा कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। आगे क्रमशः इन तीनोंका स्वरूप कहा जायगा।

वहिरात्माका स्वरूप

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
वहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः ॥४॥

जिस जीवके शरीरादि पर-पदार्थोंमें आत्म-बुद्धि है, अर्थात् जो आत्माके भ्रमसे शरीर-इन्द्रिय आदिको ही आत्मा मानता है और जिसकी चेतना-शक्ति मोहरूपी निद्रासे अस्त हो गई है, उसे वहिरात्मा जानना चाहिए ॥४॥

भावार्थ—वाहरी पदार्थोंमें जिसने आत्मत्वकी—अपनेपनकी—कल्पना कर रक्खी है, उसे वहिरात्मा कहते हैं। वहिरात्मा इस पार्थिव शरीरको ही अपनी आत्मा मानता है, इसलिए शरीरके उत्पन्न होने पर वह अपना जन्म और शरीरके विनाश होने पर अपना मरण मानता है। शरीरके गोरे-काले होनेसे वह अपनेको गोरा या काला समझता है, शरीरके स्थूल या कृश होनेसे अपनेको स्थूल या कृश मानता है, शरीरके दुर्वल होनेसे अपनेको दुर्वल एवं शरीरके सवल होनेसे अपनेको सवल मानता है। शरीरके सुरूप होनेसे अपनेको सुरूप और शरीरके कुरूप होनेसे अपनेको कुरूप मानता है। इसी प्रकार शरीरके सुखी होनेसे अपनेको सुखी और शरीरके दुखी होनेसे वह अपने आपको दुखी मानता है।

अक्षद्वारैरविश्रान्तं स्वतत्त्वविमुखैर्भृशम् ।
व्यापृतो बहिरात्माऽयं वपुरात्मेति मन्यते ॥५॥

जिनका व्यापार स्वतत्त्वसे—अपनी आत्मासे—सदा सर्वथा विमुख या प्रतिकूल ही रहता है, ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा बाहरी व्यापारोंमें उलझा हुआ यह बहिरात्मा शरीरको ही आत्मा मानता है ॥५॥

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥६॥

नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥७॥

यह बहिरात्मा मनुष्य-देहमें स्थित आत्माको मनुष्य, तिर्यञ्च-शरीरमें स्थित आत्माको तिर्यञ्च, देव-शरीरमें स्थित आत्माको देव और नारक-शरीरमें स्थित आत्माको नारकी मानता है। किन्तु तत्त्वतः आत्मा उस प्रकारका नहीं है; क्योंकि वह अनन्तानन्त ज्ञान शक्तिका भण्डार है, स्वानुभवके गम्य है और सदा अपने स्वरूपमें अचल रहता है। तथापि मोहके माहात्म्यसे यह संसारकी जिस अवस्थाको प्राप्त होता है, उसे ही अपना स्वरूप समझने लगता है ॥६—७॥

स्वदेह-सदृशं दृष्ट्वा पर-देहमचेतनम् ।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥८॥

यह मूढ़ बहिरात्मा प्राणी जिस प्रकार अपने अचेतन देहको अपनी आत्मा समझता है, उसी प्रकार परके अचेतन देहको पर आत्मासे अधिष्ठित देखकर उसे परकी आत्मा मानता है ॥८॥

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्र-भार्यादिगोचरः ॥९॥

'यह मेरी आत्मा है और यह परकी आत्मा है' इस प्रकार शरीरोंमें स्व-परका आत्म-विषयक निश्चय होनेसे आत्म-स्वरूपानभिज्ञ बहिरात्मा पुरुषोंके पुत्र-स्त्री-माता-पितादिके सम्बन्ध-विषयक विभ्रम या मोह उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात् संस्कारो जायते दृढः ।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥१०॥

उस विभ्रम या मोहसे अविद्या नामका संस्कार दृढ होता है, जिसके कारण अज्ञानी लोग जन्मान्तरमें भी शरीरको ही आत्मा मानते हैं ॥१०॥

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्र-भार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥११॥

शरीरोंमें आत्म-बुद्धिके होनेसे 'यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है' इत्यादि नाना प्रकारकी कल्पनाएँ उत्पन्न होती है और उनके कारण स्त्री-पुत्रादिको यह बहिरात्मा प्राणी अपने आत्माकी सम्पत्ति मानने लगता है। अत्यन्त दुःखकी बात है कि इस प्रकार यह सारा जगत् विनष्ट हो रहा है ॥११॥

हेयोपादेयवैकल्यान्न च वेत्त्यहितं हितम् ।
निमग्नो विषयाक्षेपु बहिरात्मा विमूढधीः ॥१२॥

यतः मूढ-बुद्धि बहिरात्माको हेय और उपादेयका विवेक नहीं होता, अतः वह अपने हित और अहितको नहीं समझता है। यही कारण है कि यह मूढात्मा पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें सदा निमग्न रहता है ॥१२॥

भावार्थ—बहिरात्माके अपने आत्माकी भलाई-बुराईका परिज्ञान नहीं होता है, इसलिए वह आत्माके परम शत्रुस्वरूप इन्द्रिय-विषयोंको बड़े चावसे सेवन करता है। ऐसा बहिरात्मा प्राणी सांसारिक वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिए निरन्तर छटपटाता रहता है और अनेक निरर्थक आशाओंको करता रहता है। राक्षसी और आसुरी वृत्तिको धारण करता है, प्रमादी, आलसी और अतिनिद्रालु होता है, क्रोध, मान, माया, दम्भ और लोभसे युक्त होता है। काम-सेवनमें आसक्त एवं भोगोपभोगके साधन जुटानेमें संलग्न रहता है और सोचा करता है कि आज मैंने यह पा लिया है, कल मुझे यह प्राप्त करना है, मेरे पास इतना धन है, और आगे मैं इतना कमाऊँगा। मेरा अमुक शत्रु है, मैंने अमुक शत्रुको मार दिया है और अमुकको अभी मारूँगा। मैं ईश्वर हूँ, स्वामी हूँ, ये सब मेरे सेवक और दास हैं। मेरे समान दूसरा कौन है, मैं कुलीन हूँ, और ये अकुलीन हैं, इस प्रकारके विचारोंसे यह बहिरात्मा प्राणी सदा घिरा रहता है।

अन्तरात्मा बननेका उपाय

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१३॥

इस जड़ पार्थिव देहमें आत्म-बुद्धिका होना ही संसारके दुःखका मूल कारण है, अतएव इस मिथ्या बुद्धिको छोड़कर और बाह्य विषयोंमें दौड़ती हुई इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोककर अन्तरङ्गमें प्रवेश करे। अर्थात् ज्ञान-दर्शनात्मक अन्तर्ज्योतिमें आत्म-बुद्धि करे, उसे अपनी आत्मा माने ॥१३॥

यदक्षविषयं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम् ।
आनन्दनिर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मयं मम ॥१४॥

जो यह इन्द्रियोंके विषयात्मक रूप है, वह मेरे आत्मस्वरूपसे विलक्षण है—भिन्न है। मेरा रूप तो आनन्दसे भरा हुआ अन्तर्ज्योतिमय है ॥१४॥

भावार्थ—मेरी आत्माका स्वरूप तो चेतनात्मक—सत्-चित्-आनन्दमय है, अर्थात् ज्ञान-दर्शन-सुखरूप है और शरीर, तथा शरीरसे सम्बन्धित इन्द्रियोंका स्वरूप अचेतनात्मक है, ज्ञान-दर्शनादिसे रहित जड़रूप है। अतः इस शरीरको, इन्द्रियोंको और उनके विषयोंको आत्मस्वरूपसे सर्वथा भिन्न जाने।

ज्ञान-दर्शनसम्पन्न आत्मा चैको ध्रुवो मम ।
शेषा भावाश्च मे बाह्याः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१५॥

ज्ञान और दर्शनसे सम्पन्न मेरा यह आत्मा सदा एक अखण्ड, ध्रुव, अविनाशी और अमर है। इसके अतिरिक्त जितने बाहरी पदार्थ हैं, वे सब मेरेसे भिन्न हैं और नदी-नाव-संयोगके समान कर्म-संयोगसे प्राप्त हुए हैं। इसलिए मुझे पर पदार्थोंमें राग-द्वेषको छोड़कर एकमात्र अपनी आत्मामें ही अनुराग करना चाहिए ॥१५॥

बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः ।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः ॥१६॥

उपर्युक्त प्रकारसे जो जीव बाहरी भावोंका—पदार्थोंका—परित्याग करके अपनी आत्मामें ही आत्माका निश्चय करता है, उसे विभ्रमरूप अन्धकारको दूर करनेमें समर्थ सूर्यके समान ज्ञानी जनोंने अन्तरात्मा कहा है ॥१६॥

आत्म-दर्शन होने पर आत्माकी प्रवृत्ति कैसी हो जाती है, इस बातको बतलाते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च समो मानापमानयोः ।
लाभालाभे समो नित्यं लोष्ठ-काञ्चनयोस्तथा ॥१७॥

जिसे आत्म-दर्शन हो जाता है, वह अन्तरात्मा शत्रु और मित्र पर सम-भावी हो जाता है, उसके लिए मान और अपमान समान बन जाते हैं, वह सांसारिक वस्तुओंके लाभ या अलाभमें समान रहने लगता है और लोष्ठ-कांचनको सम-दृष्टिसे देखने लगता है ॥१७॥

भावार्थ—जिस व्यक्तिको आत्माका साक्षात्कार हो जाता है उसकी दृष्टिमें न कोई शत्रु रहता है और न कोई मित्र रहता है, सब समान हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि उसे यह निश्चय हो जाता है कि मेरे ही पाप कर्मके उदयसे दूसरे लोग मेरे साथ शत्रुताका व्यवहार करते हैं और मेरे ही पुण्य कर्मके उदयसे दूसरे लोग मेरे साथ मित्रताका व्यवहार करते हैं। ऐसी दशामें दूसरा व्यक्ति न मेरा शत्रु है और न मित्र है; किन्तु मेरे ही भले-बुरे कर्म मेरे लिए सुख-दुःखके दाता हैं। इसी प्रकार अन्तरात्मा दूसरेके द्वारा किये गये सन्मान या अपमानमें भी हर्ष-विषादका अनुभव नहीं करता; क्योंकि वह अपने ही शुभ-अशुभ कार्योंको मान-अपमानका मूल कारण समझता है। यही बात बाहिरी वस्तुओंके लाभ-अलाभमें और स्वर्ण-पाषाणके विषयमें भी जानना चाहिए।

अन्तरात्माके भेद

अन्तरात्मा त्रिधा क्लिष्टमध्यमोत्कृष्टभेदतः ।
असंयतो जघन्यः स्यान्मध्यमौ द्वौ तदुत्तरौ ॥१८॥

अप्रमत्तादयः सर्वे यावत्क्षीणकषायकाः ।
उत्तमा यतयः शान्ताः प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥१६॥

जघन्य, मध्यम और उत्तमके भेदसे अन्तरात्मा तीन प्रकारका है। इनमें असंयत सम्यग्दृष्टिको जघन्य अन्तरात्मा कहते हैं। व्रत-धारी गृहस्थ एवं महाव्रती किन्तु प्रमादी साधु इन दोनोंका मध्यम अन्तरात्मा कहते हैं। इससे ऊपर अप्रमत्त संयतसे लेकर क्षीणकषाय संयत तकके सभी शान्त-स्वभावी ध्यानस्थ मुनियोंको उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहते हैं ॥१८–१६॥

विशेषार्थ—जिसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है उसे अपने आत्माकी दृढ़ प्रतीति हो जाती है, इस कारण उसकी बहिर्मुखी प्रवृत्ति दूर होकर अन्तर्मुखी हो जाती है। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति हो जाने पर भी जो अपनी परिस्थितियोंके वश बाहिरी पदार्थोंका सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता, धन-गृहादिको एवं कुटुम्बी-जनोंको पर जानते हुए भी उन्हें छोड़नेमें अपने आपको असमर्थ पाता है, हिंसादि करने, झूठ बोलने और चोरी आदि करनेको बुरा जानता हुआ भी उन्हें करनेके लिए विवश होता है उसे जघन्य अन्तरात्मा कहते हैं। उसकी प्रवृत्ति बाहिरसे भले ही भली न दिखे, पर भीतरसे उसे अपने बुरे कार्यों पर भारी ग्लानि होने लगती है और मन-ही-मन वह पश्चात्ताप करता है तथा अनुचित कार्योंको नहीं करनेका संकल्प भी करता है; पर वह अपने संकल्पको पूरा करनेमें सफल नहीं हो पाता। ऐसी मनोवृत्तिवाले आत्म-साक्षात्कारी जीवको जैनधर्मको परिभाषामें असंयत सम्यग्दृष्टि या जघन्य अन्तरात्मा कहते है। वह सभी लौकिक कार्योंको करते हुए भी उनमें आसक्त

नहीं होता, किन्तु अनासक्त ही रहता है। वह भीतरसे सभी प्राणियों-को अपने समान ही देखने लगता है और उनके सुख-दुःखको अपने समान मानने लगता है। वह सांसारिक दुःखोंके या सुखोंके अवसरों पर रोते या हँसते हुए भी भीतरसे संविग्न ही रहता है और भावना किया करता है कि कब वह अवसर आवे, जब कि मैं इन सांसारिक बन्धनोंसे छूटकर सत्-चित्-आनन्दमय अपने आत्मामें ही निमग्न रहूँ? कुछ जीव ऐसे भी होते हैं, जो कि आत्म-साक्षात्कार होनेके पश्चात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-संचय रूप पंच पापोंके करनेका आंशिक रूपसे या पूर्णरूपसे परि-त्याग कर देते हैं, बाहरी अनाचारको छोड़ देते है और सदाचारका पालन करने लगते हैं। जो पापोंका—बुरे कार्योंके करनेका—आंशिक रूपसे परित्याग करते हैं, उन्हें जैन शास्त्रोंकी परिभाषामें देश संयत, या अणुव्रती श्रावक कहते हैं। जो सर्व प्रकारके पापोंके करनेका मन-वचन-कायसे और कृत-कारित-अनुमोदनासे परित्याग कर देते हैं किन्तु व्यवहारवश बाहरी कार्योंको करते रहते हैं, उन्हें महाव्रती प्रमत्तविरत, या सकलसंयमी साधु कहते हैं। इन अणुव्रती श्रावकों और महाव्रती प्रमत्तविरत साधुओंको मध्यम अन्तरात्मा कहते हैं। जो अन्तर्दृष्टि प्राप्त करनेके अनन्तर बाहरी सभी भली-बुरी प्रवृत्तियोंको छोड़कर निरन्तर ध्यान या समाधिमें निरत रहते हैं, ऐसे सातवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके साधुओंको उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहते है। कोई भी व्यक्ति ध्यान या समाधिमें अहर्निश—चौबीसों घण्टे—अवस्थित नहीं रह सकता; क्योंकि कुछ क्षण ही आत्म-स्थिरता सम्भव है। इसलिए साधु जितने समय तक

समाधिमें निमग्न रहता है, उतने समय तक वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा है और शेष समयमें उसे मध्यम अन्तरात्मा जानना चाहिए। गुणस्थानोंका वर्णन आगे गुणस्थान-प्रकरणमें किया गया है।

इन तीनों ही प्रकारके अन्तरात्माओंमें यद्यपि बाहिरी त्याग-अत्याग-सम्बन्धी विभिन्नता पाई जाती है, और भीतरी मनोवृत्तिमें भी विशुद्धिकी हीनाधिकता रहती है, तथापि सर्व पदार्थोंमें समदर्शी-पना सबके समान रहता है और इसीलिए तीनोंको सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वी कहते हैं। सम्यक्त्वी या समदर्शी जीव मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ, इन चार भावनाओंकी निरन्तर भावना किया करता है। अतएव इन चारों भावनाओंका स्वरूप क्रमसे कहते हैं।

मैत्री-भावना

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सन्तु सर्वे निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥२०॥
मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत् कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥२१॥

संसारके सभी प्राणी सुखी हों, सभी प्राणी रोगरहित हों, सभी जीव आनन्दसे रहें और नित्य नये कल्याणोंको देखें। कोई भी जीव दुःखको प्राप्त न हो, कोई भी प्राणी पापोंको न करे और यह सारा संसार दुःखोंसे छूटे। इस प्रकारसे विचार करनेको मैत्रीभावना कहते हैं ॥२०-२१॥

प्रमोद-भावना

अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्त्तितः ॥२२॥

हिंसादि समस्त दोषोंसे रहित और वस्तु-स्वरूपके यथार्थ जान-

कार गुणी ज्ञानी साधु-जनोंके शम, दम, धैर्य, गम्भीर्य और विशिष्ट ज्ञानित्व आदि गुणोंमें पक्षपात करना, अर्थात् विनय, वन्दना, स्तुति आदिके द्वारा आन्तरिक हर्ष व्यक्त करना प्रमोद-भावना है ॥२२॥

कारुण्य-भावना

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते ॥२३॥

हेय-उपादेयके ज्ञान-रहित दीन पुरुषोंपर, नाना प्रकारके सांसारिक दुःखोंसे पीड़ित आर्त्त प्राणियोंपर, केवल अपने जीवनकी याचना करनेवाले जीव-जन्तुओंपर, अपराधी लोगोंपर, अनाथ, बाल, वृद्ध, सेवक आदिपर, तथा शत्रुओंसे पीड़ित प्राणियोंपर प्रतीकारात्मक बुद्धिको—उनके उद्धारकी भावना करनेको—कारुण्य-भावना कहते हैं ॥२३॥

माध्यस्थ्य-भावना

क्रूर-कर्मसु निःशङ्कं देवता-गुरुनिन्दिषु ।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥२४॥

निःशंक होकर क्रूर कर्म करनेवालों पर, देव, धर्म और गुरुकी निन्दा करनेवालों पर, तथा अपने आपकी प्रशंसा करनेवालों पर उपेक्षा भावके रखनेको माध्यस्थ्य भावना कहते हैं ॥२४॥

अन्तरात्मा इन चारों प्रकारकी भावनाओंको निरन्तर किया करता है और इस प्रकार विश्वके सर्व प्राणियोंके साथ मैत्री भावका सम्बन्ध स्थापित करता है ।

परमात्माका स्वरूप

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥२५॥

जो निर्मल है (कर्ममलसे रहित है) केवल है (शरीरादिके सम्बन्धसे विमुक्त है) शुद्ध है (द्रव्य-भाव कर्मरूप अशुद्धिसे विवर्जित है) विविक्त है (शरीररूप नोकर्मसे वियुक्त है) अक्षय है (अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप अनन्तचतुष्टयको धारण करनेसे क्षय-रहित है), परमेष्ठी है (इन्द्रादि-पूजित परम पदमें विद्यमान है), परमात्मा है (सर्व संसारी जीवोंसे उत्कृष्ट है), ईश्वर है (अन्य जीवोंमें नहीं पाये जानेवाले ऐसे अनन्त ज्ञानादिरूप ऐश्वर्यसे युक्त है) और जिन है (सर्व कर्मोंका उन्मूलन करनेवाला विजेता है) उसे परमात्मा कहते हैं ॥२५॥

परमात्माके भेद और उनका स्वरूप

परमात्मा द्विधा सूत्रे सकलो निष्कलः स्मृतः ।
सकलो भण्यते सद्भिः केवली जिनसत्तमः ॥२६॥

निष्कलो मुक्तिकान्तेशश्चिदानन्दैकलक्षणः ।
अनन्तसुखसन्तृप्तः कर्माष्टकविवर्जितः ॥२७॥

जिनागममें परमात्माके दो भेद कहे गये हैं—एक सकल परमात्मा और दूसरा निष्कल परमात्मा। शरीर-सहित, नवकेवल-लब्धिसे सम्पन्न, चार घातिया कर्मोंसे रहित सयोगिकेवली और अयोगिकेवली जिनेन्द्रको सकल परमात्मा कहते हैं। जो शरीरसे तथा आठों कर्मोंसे विमुक्त होकर मुक्ति-लक्ष्मीके स्वामी बन गये हैं, सच्चिदा-

नन्दस्वरूप हैं और अनन्त सुखोंके भोक्ता हैं, उन्हें निष्कल परमात्मा कहते हैं ॥२६–२७॥

विशेषार्थ—स-शरीर होते हुए भी जो जीवन्मुक्त हैं और कैवल्य-अवस्थाको प्राप्तकर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये हैं, ऐसे अरहन्त परमेष्ठीको सकल परमात्मा कहते हैं। तथा जिन्होंने सर्व कर्म-बन्धनोंसे छूटकर अविनाशी परमधाम प्राप्त कर लिया है, ऐसे अनन्त गुणोंके स्वामी सिद्धपरमेष्ठीको निष्कल परमात्मा कहते हैं। सकल परमात्माको साकार या सगुण परमात्मा और निष्कल परमात्माको निराकार या निर्गुण परमात्माके नामसे सम्बोधित किया जाता है।

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मन्यवस्थितः।
भावयेत् परमात्मानं सर्वसङ्कल्पवर्जितम् ॥२८॥

इस प्रकार आत्माके तीनों भेदोंको जानकर बहिरात्मापनको छोड़ना चाहिए और अपने अन्तरात्मामें अवस्थित होकर सर्वसंकल्प-विकल्पोंसे रहित परमात्माका ध्यान करना चाहिए ॥२८॥

यह जीव अनादि कालसे चले आये अज्ञान-जनित संस्कारोंको किस प्रकार छोड़ें और किस प्रकार आत्मासे परमात्मा बने, इसका विवेचन अन्तिम अध्यायमें किया गया है।

अब परमात्माके विभिन्न नामोंकी सार्थकता बतलाते हैं—

रागद्वेषादयो येन जिताः कर्ममहाभटाः।
कालचक्रविनिर्मुक्तः स जिनः परिकीर्त्तितः ॥२९॥

जिसने राग-द्वेषादि कर्मरूप महान् सुभटोंको जीत लिया है और जो काल-चक्रसे अर्थात् भव-भ्रमणसे विनिर्मुक्त हो गया है, ऐसे पुरुषको 'जिन' कहते हैं ॥२९॥

स स्वयम्भूः स्वयं भूतं सज्ज्ञानं यस्य केवलम् ।
विश्वस्य ग्राहकं नित्यं युगपद्दर्शनं तथा ॥३०॥

जिसके समस्त विश्वका युगपद् देखने और जानने वाला अविनश्वर केवलदर्शन और केवलज्ञान स्वयं उत्पन्न हुआ है, उसे 'स्वयम्भू' कहते हैं ॥३०॥

येनाप्तं परमैश्वर्यं परानन्दसुखास्पदम् ।
बोधरूपं कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः ॥३१॥

जिसने ज्ञानरूप परम ऐश्वर्य और परम आनन्द रूप सुखके स्थानको अर्थात् शिवपदको प्राप्त कर लिया है, उस कृतकृत्य आत्मा को विचक्षण जन 'ईश्वर' कहते हैं ॥३१॥

शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयम् ।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्त्तितः ॥३२॥

जिसने आकुलता-रहित, परम शान्त और परम कल्याणरूप अक्षय मुक्ति-पदको प्राप्त किया है, उसे 'शिव' कहते हैं ॥३२॥

जन्म-मृत्यु-जराख्यानि पुराणि ध्यानवह्निना ।
दग्धानि येन देवेन तं नौमि त्रिपुरान्तकम् ॥३३॥

जिस देवने शुक्लध्यानरूपी अग्निके द्वारा जन्म-जरा-मृत्युरूप तीन पुरोंको जला दिया है, उसे त्रिपुरान्तक कहते है। ऐसे त्रिपुरा-न्तक अरिहन्त परमेष्ठीको मै नमस्कार करता हूँ ॥३३॥

महामोहादयो दोषा ध्वस्ता येन यदृच्छया ।
महाभवार्णवोत्तीर्णो महादेवः स कीर्त्तितः ॥३४॥

जिस महापुरुषने यदृच्छासे (लीलामात्रसे) महामोह आदि दोषोंको ध्वस्त कर दिया है और जो संसाररूप महासागरके पारको प्राप्त हो चुका है, उसे 'महादेव' कहते है ॥३४॥

महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः ।
त्रैधातुकविनिर्मुक्तस्तं वन्दे परमेश्वरम् ॥३५॥

जो अपने महत्त्वसे (बड़प्पनसे) और समवसरणादिरूप ऐश्वर्यसे महेश्वरपनेको प्राप्त है, तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप धातुत्रयसे रहित है उसे 'परमेश्वर' कहते हैं, उसकी मैं वन्दना करता हूँ ॥३५॥

तृतीयज्ञाननेत्रेण त्रैलोक्यं दर्पणायते ।
यस्यानवद्यचेष्टायां स त्रिलोचन उच्यते ॥३६॥

जिसकी निर्दोष चेष्टामें तीसरे ज्ञान-नेत्रके द्वारा सारा त्रैलोक्य दर्पणके समान प्रतिबिम्बित होता है, उसे 'त्रिलोचन' कहते हैं ॥३६॥

येन दुःखार्णवे घोरे मग्नानां प्राणिनां दया—
सौख्यमूलः कृतो धर्मः शंकरः परिकीर्त्तितः ॥३७॥

जिसने घोर दुःखार्णवमें डूबे हुए प्राणियोंके उद्धारार्थ दया और सुख-मूलक धर्मका उपदेश दिया है, उसे 'शंकर' कहते हैं ॥३७॥

रौद्राणि कर्मजालानि शुक्लध्यानोग्रवह्निना ।
दग्धानि येन रुद्रेण तं तु रुद्रं नमाम्यहम् ॥३८॥

जिसने शुक्लध्यानरूप उग्र वह्निके द्वारा रौद्र कर्म-जालोंको जला दिया है, उसे 'रुद्र' कहते हैं। मै उस रुद्रको नमस्कार करता हूँ ॥३८॥

विश्वं हि द्रव्य-पर्यायं विश्वं त्रैलोक्यगोचरम् ।
व्याप्तं ज्ञानत्विषा येन स विष्णुर्व्यापको जगत् ॥३९॥

जिसने द्रव्य-पर्यायरूप त्रैलोक्य-गोचर विश्वको अपने ज्ञानके प्रकाश-द्वारा व्याप्त कर लिया है, उसे 'विष्णु' कहते है ॥३९॥

वासवाद्यैः सुरैः सर्वैः योऽर्च्यते मेरुमस्तके ।
प्राप्तवान् पञ्चकल्याणं वासुदेवस्ततो हि सः ॥४०॥

जो वासव आदि सर्व देवोंके द्वारा सुमेरुके मस्तक पर पूजा गया और जो पंच कल्याणकरूप सातिशय वैभवको प्राप्त हुआ, उसे 'वासुदेव' कहते हैं ॥४०॥

अनन्तदर्शनं ज्ञानं कर्मारिक्षयकारणम् ।
यस्यानन्तसुखं वीर्यं सोऽनन्तोऽनन्तसद्गुणः ॥४१॥

जिसका अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन कर्मरूप शत्रुओंके क्षयका कारण है, जिससे अनन्त सुख और वीर्य प्राप्त है, तथा जो अनन्त सद्गुणवाला है, उसे 'अनन्त' कहते है ॥४१॥

सर्वोत्तमगुणैर्युक्तं प्राप्तं सर्वोत्तमं पदम् ।
सर्वभूतहितो यस्मात्तेनासौ पुरुषोत्तमः ॥४२॥

जो सर्व-श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त है, जिसने सर्वोत्तम पद प्राप्त कर लिया है और जो सर्व प्राणियोंके हितमें रत है, उसे 'पुरुषोत्तम' कहते हैं ॥४२॥

प्राणिनां हितवेदोक्तं नैष्ठिकः सङ्गवर्जितः ।
सर्वभाषश्चतुर्वक्त्रो ब्रह्मासौ कामवर्जितः ॥४३॥

जिसने प्राणियोंके हितका उपदेश दिया है, जो निष्ठावान् है, सर्व संग (परिग्रह) से रहित है, सर्व भाषाओंमें उपदेश देता है, समवसरणमें जिसके चार मुख दिखाई देते है और जो काम-विकारसे रहित है, उसे 'ब्रह्मा' कहते है ॥४३॥

यस्य वाक्यामृतं पीत्वा भव्या मुक्तिमुपागताः ।
दत्तं येनाभयं दानं सत्त्वानां स पितामहः ॥४४॥

जिसके वचनरूप अमृतका पान करके अगणित भव्य पुरुषोंने

मुक्तिको प्राप्त किया है और जिसने प्राणिमात्रको अभयदान दिया है, उसे 'पितामह' कहते हैं ॥४४॥

यस्य षण्णवमासानि रत्नवृष्टिः प्रवार्षिता ।
शक्रेण भक्तियुक्तेन रत्नगर्भस्ततो हि सः ॥४५॥

जिसके गर्भमें आनेके छह मास पूर्वसे लगाकर जन्म लेने तक लगातार पन्द्रह मास भक्ति-युक्त इन्द्रने रत्न-वृष्टि की, उसे लोग 'रत्नगर्भ' कहते हैं ॥४५॥

मतिश्रुतावधिज्ञानं सहजं यस्य बोधनम् ।
मोक्षमार्गे स्वयं बुद्धस्तेनासौ बुद्धसंज्ञितः ॥४६॥

जिसके जन्म होनेके साथ ही मति-श्रुत और अवधिज्ञान उत्पन्न हुए थे और जो मोक्षमार्गके विषयमें स्वयं प्रबुद्ध है, अर्थात् जिसे मोक्षमार्ग पर किसी दूसरेने नहीं चलाया है, किन्तु जो स्वयं ही मुक्तिके मार्ग पर चला है उसे 'बुद्ध' कहते हैं ॥४६॥

केवलज्ञानबोधेन बुद्धवान् स जगत्त्रयम् ।
अनन्तज्ञानसङ्कीर्णं तं तु बुद्धं नमाम्यहम् ॥४७॥

जिसने अपने केवलज्ञानरूप बोधके द्वारा तीनों जगत्को जान लिया है और जो अनन्त ज्ञानसे व्याप्त है, उस बुद्धको मैं नमस्कार करता हूँ ॥४७॥

सर्वार्थभाषया सम्यक् सर्वक्लेशप्रघातिनाम् ।
सत्त्वानां बोधको यस्तु बोधिसत्त्वस्ततो हि सः ॥४८॥

जो शारीरिक-मानसिक आदि सर्व प्रकारके क्लेशोंमें पड़े हुए प्राणियोंको सर्व-अर्थोंकी प्रतिपादन करनेवाली अपनी अनुपम भाषा या दिव्यवाणी के द्वारा बोध-प्रदान करता है, उसे 'बोधिसत्त्व' कहते हैं ॥४८॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं स्थानमात्मस्वभावजम् ।
प्राप्तं परमनिर्वाणं येनासौ सुगतः स्मृतः ॥४९॥

जिसने सर्व प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित, आत्म-स्वभावसे उत्पन्न हुए परम निर्वाणरूप शिव-स्थानको प्राप्त कर लिया है, उसे 'सुगत' कहते हैं ॥४९॥

सुप्रभातं सदा यस्य केवलज्ञानरश्मिना ।
लोकालोकप्रकाशेन सोऽस्तु भव्यदिवाकरः ॥५०॥

लोकालोककी प्रकाश करनेवाली केवलज्ञानरूपी किरणोंके द्वारा जिसकी आत्मामें सदा सुप्रभात रहता है, वह 'भव्य-दिवाकर' कहलाता है ॥५०॥

जन्म-मृत्यु-जरारोगाः प्रदग्धा ध्यानवह्निना ।
यस्यात्मज्योतिषां राशेः सोऽस्तु वैश्वानरः स्फुटम् ॥५१॥

जिसने ध्यानरूपी अग्निके द्वारा अपने जन्म, जरा और मृत्युरूपी महारोगोंको दग्ध कर दिया है और जो आत्म-ज्योतियोंका पुञ्ज है वही वस्तुतः 'वैश्वानर' है ॥५१॥

एवमन्वर्थनामानि वेद्यान्यत्र विचक्षणैः ।
वन्दे नमामि नित्यं तं सर्वज्ञं सर्वलोचनम् ॥५२॥

इस प्रकार उस सर्वज्ञ परम ब्रह्म परमात्माके और भी अनेक नामोंकी सार्थकताको जानना चाहिए। मैं उस सर्व-लोचन सर्वज्ञकी नित्य वन्दना करता हूँ और उसे नमस्कार करता हूँ ॥५२॥

उपसंहार

इस अध्यायके अन्तमें परमात्माके विभिन्न नामोंका उल्लेख करते हुए उनका वास्तविक अर्थ बतलाकर यह दर्शाया गया है

कि जो वीतराग, सर्वज्ञ, शुद्ध, बुद्ध और प्राणिमात्रका हितैषी है, उसे ही शिव, शङ्कर, ब्रह्मा, बुद्ध, सुगत आदि भिन्न-भिन्न नामोंसे विभिन्न मतावलम्बी अपना आराध्य इष्टदेव कहते हैं। नामोंकी जो सार्थकता बतलाई गई है उससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिका विभिन्न मतावलम्बियोंने जो रूप माना है, वह रूपकमात्र ही है, यथार्थ नहीं। उक्त नामोंकी सार्थकता तो जिस प्रकारसे ऊपर बतलाई गई है, उस ही प्रकारसे सम्भव है और वह युक्ति-युक्त भी है।

इस प्रकार आत्माके तीन भेदोंका और परमात्माके विभिन्न नामोंका प्रतिपादन करनेवाला प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

• द्वितीय अध्याय : संक्षिप्त सार •

प्रथम अध्यायमें जिस सकल परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है, उसे ही 'जिन' कहते हैं। उस जिन भगवान्‌ने संसारके प्राणियोंके उद्धारके लिए जिस धर्मका उपदेश दिया है, उसे 'जिनधर्म' या 'जैनधर्म' कहते हैं। जिन यह किसी व्यक्ति-विशेषका नाम नहीं है, किन्तु यह एक पद है जो साधकको अपनी आत्मिक उन्नति करने पर, विषय-कषायोंके जीतने और कर्म-शत्रुओंके नाश करने पर उसे प्राप्त होता है। अनादि कालसे आज तक अनन्त जिन हो गये हैं और आगे भी होंगे। प्रत्येक जिन अपने समयमें इसी आत्म-धर्मका उपदेश देते हैं। इस धर्मकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अन्य धर्मोंके समान इसने प्राणियोंको स्वर्ग या नरक लेजाने का अधिकार किसी ईश्वरके हाथमें नहीं सौंपा है, किन्तु यह बताया है कि स्वर्ग या नरक जानेकी कुंजी प्रत्येक व्यक्तिके हाथमें हैं। वह उत्तम कार्य करनेसे सुख पाता है और बुरे कार्य करनेसे दुःख भोगता है।

इस अध्यायमें धर्मका स्वरूप बतला करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा गया है। तत्पश्चात् सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है, उसके कितने अंग है और कितने भेद है, इसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। साथ ही सम्यग्दर्शनके २५ दोषोंका विवेचन कर उनके छोड़नेका विधान किया गया है।

पुनः सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेके साथ ही आत्मामें प्रकट होने वाले प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणोंके स्वरूपका निरूपण कर अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठियों-का स्वरूप बतलाया गया है। पुनः सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलाते हुए कहा गया है कि सम्यक्त्वी जीव मरकर नरकमें नहीं जाता, तिर्यंचोंमें नहीं उत्पन्न होता। यदि आयु-बन्धके पूर्व नरक या तिर्यंच गतिकी आयु बँध गई हो, तो पहले नरकसे नीचे नहीं जायेगा, और तिर्यंचोंमें भी कर्मभूमियाँ तिर्यंचोंमें न उत्पन्न होकर भोगभूमियाँ तिर्यंचोंमें उत्पन्न होगा, जहाँपर कि उसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता है। मनुष्योंमें यदि उत्पन्न होगा तो नीच, दरिद्र, अल्पायु और विकलांग नहीं होगा, किन्तु उच्चकुलीन, समृद्ध, तेजस्वी और दीर्घायु पुरुषोंमें ही जन्म लेगा। यदि देवोंमें उत्पन्न होगा, तो इन्द्र, अह-मिन्द्रादि उच्च पदवीका धारक होगा। चक्रवर्ती और तीर्थंकर जैसे महान् पद भी इसी सम्यग्दर्शनके प्रभावसे प्राप्त होते हैं और अन्तमें निर्वाणका अक्षय, अव्याबाध अनन्त सुख भी इसीके प्रसादसे प्राप्त होता है। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि सम्यग्दर्शनको प्राप्त करने-का प्रयत्न करे।

द्वितीय अध्याय

धर्मका लक्षण

यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः ।
वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः ॥१॥

जिसके द्वारा प्राणियोंको स्वर्गादि-सम्पत्तिस्वरूप अभ्युदयकी और निश्रेयसरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है, अर्थात् जो प्राणियोंको संसारके दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखमें पहुँचाता है, आम्नायके ज्ञाता धर्माचार्योंने उसे धर्म कहा है ॥१॥

सदृदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥२॥

धर्मका प्रतिपादन करनेवाले जिनभगवान्‌ने उस धर्मको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप कहा है। इन तीनोंके प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसारके कारण हैं ॥२॥

भावार्थ—धर्म सम्यग्दर्शनादिरूप है और अधर्म मिथ्यादर्शनादिरूप है। इनका विस्तृत विवेचन आगे यथास्थान किया जायगा।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥३॥

परमार्थस्वरूप अर्थात् सच्चे आप्त, आगम और गुरुका तीन मूढता-रहित, आठ मद-रहित और आठ अंग-सहित श्रद्धान करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥३॥

विशेषार्थ—सप्त तत्त्वोंका श्रद्धान आगमके अन्तर्गत आ जाता है, इसलिए 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' वाला लक्षण भी इसीके अन्तर्गत जानना चाहिए। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिए सप्त तत्त्वोंका ज्ञान वा श्रद्धान अत्यन्त आवश्यक है।

जीवोऽजीवास्रवौ बन्धः संवरो निर्जरा तथा।
मोक्षश्च सप्त तत्त्वार्थाः मोक्षमार्गैषिणामिमे ॥४॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात यथार्थ तत्त्व कहलाते हैं, जिनका कि यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान मोक्षमार्गके चाहनेवालोंके लिए अत्यन्त आवश्यक है ॥४॥

क्रमानुसार पहले जीवादि सातों तत्त्वोंका स्वरूप कहना चाहिए था, किन्तु उनका विस्तृत विवेचन आगे पृथक् पृथक् अध्यायोंमें किया गया है, इसलिए यहाँ पहले आप्तका स्वरूप कहते हैं—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

जो राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित वीतराग हो, सर्वज्ञ हो, आगमका ईश अर्थात् हितोपदेशी हो, वही नियमसे आप्त अर्थात् सच्चा देव हो सकता है। अन्यथा—इन तीन गुणोंमेंसे किसी एकके विना आप्तपना संभव नहीं है ॥५॥

भावार्थ—अन्य मतावलम्बियों-द्वारा कल्पना किये गये विविध वेषके धारक रागी, द्वेषी और असर्वज्ञ व्यक्ति सच्चे देव कहलानेके योग्य नहीं हैं, यह बात उक्त तीन असाधारण विशेषणोंके देनेसे ही

सिद्ध है। अतएव वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी प्रशम-मूर्त्ति जिनेन्द्र देव ही सत्यार्थ आप्त* है।

आगमका स्वरूप

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥६॥

जो आप्तके द्वारा कहा गया हो, वादि-प्रतिवादियोंके द्वारा अनुल्लंघ्य हो, प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे जिसमें किसी प्रकारका विरोध न आता हो, अर्थात् पूर्वापर विरोधसे रहित हो, सच्चे और आत्मोपयोगी तत्त्वोंका उपदेश करनेवाला हो, सर्व प्राणियोंके हितका प्रतिपादक हो और कुमार्ग या मिथ्यामार्गका नाश करनेवाला हो, उसे सच्चा शास्त्र या आगम कहते हैं ॥६॥

गुरुका स्वरूप

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥७॥

जो पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी आशा-तृष्णाके वशंगत न हो, सर्व आरम्भसे रहित हो, अपरिग्रही हो, सदा ज्ञान, ध्यान और तपमें निरत रहता हो, वही तपस्वी सच्चा गुरु कहलाता है ॥७॥

विशेषार्थ—उपर्युक्त स्वरूपवाले देव, शास्त्र और गुरु की दृढ़ प्रतीति होनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। दृढ प्रतीतिका भाव यह है कि ये तीनों ही मेरे आत्माके उद्धारक हैं, सच्चे मार्गके उपदेशक

---

* आप्तस्वरूपके विशेष निर्णयके लिए देखिए—आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा, आप्तस्वरूप और अकलंकस्तोत्र आदि।

हैं और विश्वहितके साधक हैं। इनके द्वारा बतलाया गया ज्ञान, दर्शनमयी चैतन्यरूप ही मेरा आत्मा है, जो कि अनादि-निधन है। मैं अपने भले-बुरे कार्योंसे ही संसारमें सुख-दुःख उठाता हुआ भ्रमण कर रहा हूँ, मेरेको सुख-दुख देनेवाला अन्य कोई नहीं है, किन्तु मेरा ही पूर्वोपार्जित कर्म मुझे सुख-दुख देता है। अतएव बुरे कार्योंको छोड़ कर अब मुझे सत्कार्य करते हुए सन्मार्ग पर चलना चाहिए। इस प्रकार आत्मामें दृढ़ श्रद्धानके होनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं।

पूर्ण सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिए उसके आठों अंगोंका धारण करना अत्यन्त आवश्यक है, अतएव उनका क्रमशः वर्णन करते हैं।

१ निःशंकित-अंग

इदमेवेदृशं चैव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥८॥
सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्तव्या ॥९॥

तत्त्वोंका जैसा स्वरूप जिन भगवान्‌ने कहा है, वह यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं और न अन्य प्रकार हो सकता है इस प्रकार सन्मार्गमें खड्ग पर चढ़ाये गये लोहेके पानीके समान संशय-रहित निश्चल रुचि या श्रद्धान करना, सो निशंकित अंग कहलाता है। सर्वज्ञ भगवान्‌ने इस समस्त वस्तु-समूहको अनेक धर्मात्मक अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदि अनन्त धर्मोंवाला कहा है, सो क्या यह सत्य है, अथवा नहीं; इस प्रकारकी शंका कदाचित् भी नहीं करनी चाहिए। ॥८-९॥

भावार्थ—इस अंगका अभिप्राय यह नहीं समझना चाहिए कि जैनधर्ममें जिज्ञासारूप शंकाकी मनाई की गई है, क्योंकि यह धर्म परीक्षा-प्रधान है। किन्तु जो अतीन्द्रिय और सूक्ष्म तत्त्व हमारे ज्ञानके परे हैं, उनमें शंकाकी मनाई की गई है। जिन तत्त्वोंकी हम परीक्षा कर सकते हैं, उनकी तो परीक्षा करनी ही चाहिए।

२ निःकांक्षित-अंग

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥१०॥
इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकाङ्क्षेत् ॥११॥

सांसारिक सुख कर्मके परवश है, अन्त करके सहित है, शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे जिसका उदय व्याप्त है जिसके पश्चात् नियमसे दुःखकी प्राप्ति होती है और पापका बीज है, ऐसे सुखकी आस्था या आकाक्षा नहीं करना निःकाक्षित अंग है। सम्यग्दृष्टि पुरुषको चाहिए कि इस जन्ममें लौकिक विभूति, पद, सम्पत्ति, सन्तति आदिकी और परभवमें चक्रवर्त्ती, नारायण, बलभद्र, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि होनेकी आकांक्षा न करे। तथा एकान्तवादसे दूषित पर-सिद्धान्तोंकी भी चाह न करे और सांसारिक वैभवोंकी इच्छा न करे। इसे ही निःकाक्षित अंग कहते है ॥१०–११॥

३ निर्विचिकित्सा-अंग

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥१२॥

क्षुत्तृष्णा-शीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥१३॥

स्वभावसे अपवित्र किन्तु रत्नत्रय धारण करनेसे पवित्र हुए, शरीरमें ग्लानि न करके उसमें रहनेवाले आत्माके गुणोंमें प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग है । अतएव भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि नाना प्रकारके विकृति-कारक संयोगोंके मिलनेपर चित्तको खिन्न नहीं करना; और वस्तु-स्वभावको जानकर मल-मूत्रादि पदार्थोंमें ग्लानि नहीं करना चाहिए ॥१२-१३॥

४ अमूढदृष्टि-अंग

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः ।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्त्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥१४॥
लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥१५॥

दुःखोंके मार्गभूत कुमार्गकी और कुमार्ग पर चलनेवाले व्यक्तिकी मनसे सराहना नहीं करना, वचनसे प्रशंसा नहीं करना और कायसे अनुमोदना नहीं करना सो अमूढ़दृष्टि अंग है । अतएव तत्त्वोंमें रुचि रखनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुषको प्रपंच-वर्धक लौकिक रूढ़ियोमें, कल्पित शास्त्रोंमें; मिथ्या सिद्धान्तोंमें और रागी-द्वेषी देवताओंमें नित्य ही अपनी दृष्टिको अमूढ़ रखना चाहिए ॥१४-१५॥

भावार्थ—इस अंगका अभिप्राय यह है कि जब यह भली-भाँति विदित हो जाय अमुक मार्ग सुमार्ग नहीं, किन्तु कुमार्ग है, अमुक मत कुमत है, अमुक देवता झूठा है, और अमुक व्यक्ति कुमार्ग पर चल रहा है, तब उसकी मन-वचन या कायसे की गई

किसी भी प्रकारकी प्रशंसा या अनुमोदना, आत्म-प्रतारणा तो करती ही है, साथ ही दूसरोंके लिए भी प्रवञ्चनाका काम करती है, क्योंकि लोक गतानुगतिक होते हैं, प्रत्येक व्यक्ति परीक्षा-प्रधानी नहीं हो सकता। अतः जो विवेकी एवं सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हें भूलकर भी मिथ्यामत और उसके माननेवालोंकी पूज्य भावसे आदर-भक्ति या प्रशंसा नहीं करना चाहिए।

५ उपगूहन या उपवृंहण अंग

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१६॥
धर्मोऽभिवर्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपवृंहणगुणार्थम् ॥१७॥

स्वयं शुद्ध धर्म मार्गकी बाल या अशक्त जनके निमित्तसे उत्पन्न हुई निन्दाके प्रमार्जन करनेको उपगूहन अंग कहते हैं। उपगूहन या उपवृंहण गुणकी प्राप्तिके लिए मार्दवादिकी भावनासे सदा आत्म-धर्मकी वृद्धि और पर-दोषका उपगूहन करना चाहिए ॥१६-१७॥

विशेषार्थ—धर्मका या मुक्तिका मार्ग तो स्वयं शुद्ध होता है, अतएव उसकी निन्दा स्वतः तो संभव नहीं है, तथापि धर्मके धारण करनेवाले या मोक्षमार्ग पर चलनेवाले किसी बाल (अज्ञानी) या अशक्त (असमर्थ) जनके आश्रयसे अर्थात् उसकी असावधानी या भूलसे यदि कभी धर्मकी या मुक्तिमार्गकी निन्दा उठ खड़ी हो, उसका अपवाद होने लग जाय या लोग उसे कलंकित करने लगें, तो उस निन्दाके प्रमार्जन करनेको, अपवादके दूर करने तथा

कलङ्कके शुद्ध करनेको उपगूहन अंग कहते हैं। इस अंगका दूसरा नाम उपबृंहण भी है, जिसका अर्थ वृद्धि करना होता है। अतएव मुक्तिके मार्गपर चलनेवाले पुरुषको उत्तम क्षमा, मार्दव, सत्य, शौच आदि गुणोंकी भावनाओंसे अपने धर्मको सदा बढ़ाते रहना चाहिए और आत्म-धर्मकी या अपने गुणोंकी वृद्धिके लिए यह भी आवश्यक है कि वह परके दोषोंका निगूहन करे, उन्हें प्रकट न होने दे, और अपने मुखसे कभी दूसरोंके दोष न कहे। सारांश यह कि अपने गुणोंको बढ़ानेकी अपेक्षा इसे उपबृंहण अंग कहते हैं और दूसरेके दोषोंको ढाँकने या कमसे कम अपने मुखसे उन्हें प्रकाशित न करनेकी अपेक्षा इसे उपगूहन अंग कहते हैं।

६ स्थितिकरण-अंग

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥१८॥
कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥१९॥

जीवोंके सम्यग्दर्शनसे या सम्यक्चारित्रसे चलायमान होनेपर धर्मप्रेमियोंके द्वारा पुनः उसमें उन्हें अवस्थित करनेको ज्ञानिजन स्थितिकरण अंग कहते हैं। अतएव काम, क्रोध, मद आदिके उदय होनेके कारण न्याय-मार्ग अपने या परके चल-विचल होने पर युक्तिसे स्व और परका स्थितिकरण करना चाहिए ॥१८-१९॥

विशेषार्थ—जब कोई मनुष्य अपनी परिस्थितियोंसे विवश होकर आजीविकाके नष्ट हो जानेपर, अथवा काम-विकार, क्रोध, अहङ्कार आदिके उदय होनेपर अपने धर्मसे गिरकर मिथ्याधर्मको

स्वीकार करनेके अभिमुख हो और सदाचारको छोड़कर असदा-चारकी ओर बढने लगे, तब धर्मसे वात्सल्य रखनेवाले मनुष्योंका कर्त्तव्य है कि जिस प्रकारसे भी सम्भव हो, उसे अपने धर्ममें स्थिर रखनेका प्रयत्न करें। यह पर-स्थितिकरण हैं। तथा यदि आप स्वयं ही काम-विकार, आजीविका-विनाश या क्रोधादि कषायोंके आवेशसे चल-विचल होने लगें, तो अपने आत्माको सम्बोधन करें—हे आत्मन्, तूने आज तक असंख्य योनियोंमें नाना प्रकारके अनन्त कष्ट सहे है, फिर आज यह तेरा कष्ट कितना-सा है, इत्यादि प्रकारसे अपने आपको समझाते हुए स्वयं पतित होने से बचे। इसे स्व-स्थितिकरण कहते हैं।

७ वात्सल्य-अंग

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथाऽपेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥२०॥
अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिष्वपि परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥२१॥

अपने साधर्मी भाइयोंके प्रति निश्छल, सरल सद्व्यवहार करना, उनका यथायोग्य आदर-सत्कार करना और उनके साथ गोवत्सवत् स्नेह करना वात्सल्य अंग कहलाता है। अतएव भगवती अहिंसामें, शिवसुख-लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारणभूत धर्ममें और सभी साधर्मी बन्धुओंमें परम स्नेहमय वात्सल्यभाव रखना चाहिए ॥२०-२१॥

विशेषार्थ—जैसे गाय अपने बछड़ेके साथ सहज आन्तरिक स्नेह रखती है, उसे देखकर आनन्दसे विभोर हो जाती है और उसे दुःखी देखकर, सिंहादि हिंसक प्राणियोंके द्वारा आक्रान्त एवं

पीड़ित देखकर उसे बचानेके लिए अपने प्राणोंकी भी आहुति देनेको तत्पर रहती है, ठीक इसी प्रकारसे धर्मात्माजनोंको देखकर आनन्दसे गद्‌गद होना और साधर्मी जनों पर आये हुए संकटको दूर करनेके लिए उद्यत रहना पर-वात्सल्य है। तथा आत्म-हितकर धर्ममें अनुराग रखना, प्राणिमात्रका हित चाहनेवाली भगवती अहिंसामें श्रद्धा रखना, उसके पालनमें तत्पर रहना और उसका प्रचार करते रहना, यह स्ववात्सल्य है। सम्यग्दृष्टि स्व-वात्सल्यका पालन तो करता ही है, साथ ही पर-वात्सल्यके लिए सदा उद्यत रहता है और धर्म या समाजके ऊपर संकट आनेपर तन, मन और धनसे, जैसे भी संभव होता है, उसे दूर करनेमें निरन्तर प्रयत्नशील रहता है और समय आने पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है।

८ प्रभावना-अंग

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥२२॥
आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥२३॥

संसारमें फैले हुए अज्ञानान्धकारके प्रसारको अपनी शक्तिके अनुसार सर्व सम्भव उपायोंसे दूर कर जैन शासनके माहात्म्यको प्रकाशित करना प्रभावना कहलाती है। अतएव सम्यग्दृष्टि पुरुष निरन्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय-तेजसे अपनी आत्माको प्रभावमय बनावे। तथा दान, तप, जिनपूजा और विद्याके अतिशय-द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना करे ॥२२-२३॥

विशेषार्थ—उपगूहनादि अंगोंके समान इस अंगके भी दो भेद हैं–स्व-प्रभावना और पर-प्रभावना। अपने भीतर सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करना, सतत ज्ञान-वृद्धि और शास्त्राभ्यासमें संलग्न रहना और शक्तिको नहीं छिपाते हुए सदाचारकी ओर निरन्तर अग्रसर होना स्व-प्रभावना कहलाती है। व्यक्तिकी आत्मिक या धार्मिक तेजस्विताको देखकर विना कहे ही अनायास संसार पर उसका उत्तम प्रभाव पड़ता है। तथा जगत्में व्याप्त आत्मिक अज्ञानको दूर करनेके लिए उपदेश देना, प्रवादियोंके साथ शास्त्रार्थ कर और उन्हें परास्त कर धर्मका डंका वजाना, सम्यग्ज्ञानके प्रचारार्थ विद्यालय खोलना, ज्ञानपीठ स्थापित करना, असमर्थ विद्यार्थियोंको छात्रवृत्ति देना, सविभव जिनपूजा करना, विद्या और मन्त्रादिके चमत्कार दिखाना, दानशालाएँ खोलना एवं धर्म-प्रचारार्थ स्थायी अर्थ-कोष स्थापित करना पर-प्रभावना है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मिक गुणोंकी वृद्धि करते हुए स्व-प्रभावना तो करता ही है, साथ ही उक्त उपायोंसे अपनी शक्तिके अनुसार संभव उपायसे पर-प्रभावना भी करता है और करनेके लिए प्रयत्नशील रहता है।

आठों अङ्गोंके धारण करनेको आवश्यकता

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥२४॥

जिस प्रकार एक भी अक्षरसे न्यून मन्त्र सर्पादिके विषकी वेदनाको दूर करनेमें समर्थ नहीं है, उसी प्रकार किसी एक अंगसे हीन सम्यग्दर्शन संसारके जन्म-मरणकी परम्पराको छेदनेके लिए समर्थ नहीं है। ॥२४॥

भावार्थ—जैसे शरीरके आठ अङ्गोंमेंसे किसी भी अङ्गके कम होने पर मनुष्य विकलाङ्गी कहलाता है, उसी प्रकार किसी भी अङ्गके अभावमें सम्यग्दर्शन भी विकलाङ्गी रहेगा और वैसी दशामें वह हीनाक्षर मन्त्रके समान सर्वाङ्गमें व्याप्त कर्मरूप सर्पकी विष-वेदनाको दूर करनेमें असमर्थ होगा। इसलिए सम्यग्दर्शनको पूरे आठों अङ्गोंके साथ ही धारण करना आवश्यक है, तभी उसमें असंख्य भव-संचित कर्मोंके और अनन्त संसारके नाश करनेकी शक्ति प्रकट होगी।

सम्यग्दर्शन में विकार उत्पन्न करनेवाले पच्चीस दोष

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥२५॥

तीन मूढताएँ, आठ मद, छह अनायतन और शङ्कादि आठ दोष, ये पच्चीस सम्यग्दर्शनके दोष हैं ॥२५॥

विशेषार्थ—मूर्खता-पूर्ण कार्योंके करनेको मूढ़ता कहते हैं। वे तीन प्रकारकी होती हैं—लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और पाखण्डि-मूढ़ता। अहङ्कार करनेको मद कहते हैं। वे आठप्रकारके होते हैं—जातिमद, कुलमद, रूपमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद, पूजामद और ज्ञानमद। अधर्मके आधारोंको अनायतन कहते हैं। वे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु और इन तीनोंके सेवकके भेदसे छह प्रकारके हैं। तथा आठों अंगोंके नहीं पालन करनेसे तद्विपरीतरूप आठ दोष और होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिपूजा, परदोषानुपगूहनता, अस्थितिकरणता,

अवात्सल्य और अप्रभावना। इन दोषोंके लगनेसे सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है और अपना कार्य पूर्णरूपसे करनेमें असमर्थ रहता है।

१ लोकमूढ़ताका स्वरूप

सूर्यार्घो वह्निसत्कारो गोमूत्रस्य निषेवणम्।
तत्पृष्ठान्तनमस्कारो भृगुपातादिसाधनम् ॥२६॥

देहलीगेहरत्नाश्वगजशस्त्रादिपूजनम्।
नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं पुण्यहेतवे ॥२७॥
सङ्क्रान्तौ च तिलस्नानं दानं च ग्रहणादिषु।
सन्ध्यायां मौनमित्यादि त्यज्यतां लोकमूढताम् ॥२८॥

सूर्यको अर्घ देना, अग्निकी पूजा करना, गायके मूत्रका सेवन करना, गायके पृष्ठ भागको नमस्कार करना, भृगुपात अर्थात् पर्वत आदि ऊँचे स्थानसे गिरना, अग्निमें प्रवेश आदि करना, मकानकी देहलीको पूजना, घर पूजना, रत्न, घोड़ा, हाथी, शस्त्र आदिकी पूजा करना, पुण्योपार्जनके लिए नदी, नद और समुद्रोंमें स्नान करना, मकर संक्रान्तिमें तिलसे स्नान करना, तिलोंका दान करना, सूर्य, चन्द्रग्रहणके समय दान करना और केवल सन्ध्या-समय मौन धारण करनेको ही धर्म मानना, इत्यादि जो लोकमें मूढताएँ प्रचलित हैं, उन्हें करनेको लोकमूढता कहते है। जीवको इस लोकमूढताका त्याग करना चाहिए ॥२६–२८॥

२ देवमूढ़ताका स्वरूप

ब्रह्मोमापतिगोविन्दशाक्येन्दुतपनादिषु।
मोहकादम्बरीमत्तेष्वाप्तधीर्देवमूढता ॥२९॥

ऐहिकाशावशित्वेन कुत्सितो देवतागणः ।
पूज्यते भक्तितो वाढं सा देवमूढता मता ॥३०॥

मोहरूपी मदिराके पान करनेसे मत्त, विविध वेषके धारक, अन्य मतावलम्बियोंसे परिकल्पित रागी-द्वेषी और कामी, क्रोधी ऐसे ब्रह्मा, उमापति, गोविन्द, शाक्य, चन्द्र और सूर्य आदिकमें आप्त-बुद्धि करना अर्थात् उन्हें आत्माका उद्धारक सच्चा देव मानना, सो देवमूढ़ता है। इन कुत्सित देवतागणोंकी लौकिक आशाओंके वशंगत होकर भक्तिके साथ जो विविध प्रकारसे पूजा की जाती है, उसे देवमूढ़ता माना गया है ॥२९-३०॥

३ पाखण्डिमूढ़ताका स्वरूप

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्त्तवर्त्तिनाम् ।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥३१॥

जो परिग्रह, आरम्भ और हिंसासे युक्त हैं, संसाररूप समुद्रके भँवरमें पड़े हुए डुबकियाँ ले रहे हैं, ऐसे पाखंडी विविध-वेष-धारी गुरुओंका किसी सिद्धि आदि पानेकी अभिलाषासे आदर-सत्कार करना सो पाखंडिमूढता जानना चाहिए ॥३१॥

वरार्थं लोकवार्तार्थमुपरोधार्थमेव वा ।
उपासनममीषां स्यात्सम्यग्दर्शनहानये ॥३२॥

क्लेशायैव क्रियामीषु न फलावाप्तिकारणम् ।
यद्भवेन्मुग्धबोधानामूषरे कृषिकर्मवत् ॥३३॥

उक्त प्रकारके इन कुदेव, कुगुरु आदिकी उपासना चाहे किसी वर-प्राप्तिके लिए की जाय, चाहे लौकिक असि, मषि, कृषि,

वाणिज्य आदिके सुसम्पादनार्थ की जाय और चाहे किसीके उपरोध या आग्रह, प्रेरणा आदिसे ही की जाय, वह सम्यग्दर्शनको हानि पहुँचाती ही है। क्योंकि, वस्तु स्थिति यह है कि कोई किसीको कुछ देता नहीं है, मनुष्य अपने किये भले बुरे कर्मका ही फल पाता है। अतः कुदेव, कुगुरुओंकी सेवा सम्यग्दर्शनका घात करती है। दूसरी बात यह है कि इन लोगोंके विषयमें जो कुछ भी सेवा आदि किया की जाती है, वह केवल क्लेश का ही कारण है, उससे फलकी कुछ भी प्राप्ति नहीं होती है। जिस प्रकार कोई मुग्ध पुरुष ऊपर भूमिमें खेती करे, तो वह उसके लिए निष्फल और केवल क्लेश-दायक ही है ॥२२-२३॥

आठ मद

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२४॥

पुण्योदयसे प्राप्त अपने ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और वपु (शरीर) इन आठोंका आश्रय लेकर अपने उच्चत्व या श्रेष्ठत्वका अभिमान करने और हीनत्वके कारण दूसरोंका अपमान करनेको गर्व-रहित, मार्दवधर्मके धारक, विनयशील महर्षियोंने स्मय या मद कहा है। ॥२४॥

विशेषार्थ—जाति-कुलादिका आश्रय लेकर अपनी उच्चता और दूसरेकी नीचता प्रकट करनेको मद कहते है। शास्त्रोंमें मान, मद, दर्प, स्तम्भ, उत्कर्ष, प्रकर्ष, समुत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, परिभव, स्मय, उत्सिक्त, तिरस्कार, अहङ्कार और ममकारको मान-

कषायका पर्यायवाची या एकार्थक नाम बतलाया गया है[1]। यद्यपि इन सभी नामोंमें निरुक्तिकी अपेक्षा कुछ अर्थ-भेद है, तथापि अपनी श्रेष्ठता और दूसरेकी हीनता दिखानेकी अपेक्षा सबमें समानता मानी गई है। आचार्योंने मदके आठ भेद बतलाये हैं, उनमें उक्त नाम रत्नकरण्डकारके मतानुसार हैं। प्रशमरतिप्रकरणके रचयिताने शरीरके स्थान पर रूप, ऋद्धिके स्थानपर लाभ, पूजाके स्थानपर लोक-वल्लभता और तपके स्थान पर श्रुत नाम कहा है[2]। संस्कृत भावसंग्रहकारने[3] ऋद्धिके स्थानपर 'वित्त' और एक दूसरे ग्रन्थकारने 'प्रभुता' का नाम दिया है। पर अर्थको देखते हुए कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि लाभ, ऋद्धि, वैभव, वित्त आदि नाम ऐश्वर्यके और लोक-वल्लभता, पूजा और प्रभुता आदि नाम प्रतिष्ठाके द्योतक हैं। बुद्धि ज्ञानका पर्यायवाची ही नाम है। अन्तर केवल रह जाता है श्रुत और तपके नामोंमें। यह अन्तर कुछ महत्त्वपूर्ण है। अतः ज्ञानमें श्रुतका अन्तर्भाव हो जाता है, अतः रत्नकरण्डोक्त 'तप' नामका मद अधिक व्यापक है। प्रशमरतिकारने बुद्धिसे श्रुतको जो भिन्न गिनाया है, वह अपनी एक खास विशेषता रखता है। गुरुके पास शास्त्रादिके अध्ययनसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानको श्रुत कहते हैं और विना किसीके पास शास्त्रादिके पढ़े ही जन्म-जात नैसर्गिकी प्रतिभा या तात्कालिक सूझ-बूझ की

---

१ देखो कसायपाहुड सुत्तके व्यञ्जन-अर्थाधिकारकी दूसरी गाथा और उसकी टीका आदि। २ देखो श्लोक संख्या ८०। ३ देखो श्लोक संख्या ४०७।

शक्तिको बुद्धि कहते है। इस दृष्टिसे ज्ञान और बुद्धिका अन्तर स्पष्ट है।

माताकी उच्च वंश-परम्पराके अभिमान करनेको जातिमद कहते हैं। पिताके उच्च वंश-परम्पराके अभिमान करनेको कुलमद कहते हैं। शरीर-सौन्दर्यके अभिमान करनेको शरीरमद या रूप-मद कहते हैं। शारीरिक एवं कौटुम्बिक शक्तिके गर्व करनेको बलमद कहते हैं। धन, वैभव, समृद्धि और अभीप्सित वस्तु प्राप्ति आदिके गर्व करनेको ऋद्धिमद, धनमद या लाभमद कहते है। बुद्धिके मदको ज्ञानमद कहते है। अपनी लोक-पूजा, सर्वजन-प्रियता, प्रभुता या प्रतिष्ठाके मान करनेको प्रभुतामद, पूजामद या वाल्लभ्यमद कहते हैं। तप और श्रुतके मान करनेको तप और श्रुतमद कहते हैं।

मदके स्थूल रूपसे या जातिसामान्यकी अपेक्षा ये उपर्युक्त आठ भेद कहे गये हैं। किन्तु सूक्ष्मरूपसे या विशेषकी अपेक्षा प्रत्येकके अनेक अवान्तर भेद होते हैं। जैसे धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, वैद्यक, गणित, विज्ञान (साइंस), मंत्र, तन्त्र, कला-कौशल आदिकी अपेक्षा ज्ञानमदके अनेक भेद हो जाते हैं। धनबल, जनबल, सेनाबल, मनोबल, वचनबल और कायबल, आदिकी अपेक्षा बलमदके भी अनेक भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार शेष मदोंके भी अनेक भेद जानना चाहिए। यतः सम्यक्त्वी जीवकी दृष्टि अपने आत्माकी ओर हो जाती है और उसे ही वह यथार्थ, स्थायी और अपनी सम्पत्ति मानता है, अतः कुल-जाति आदि बाहरी वस्तुओं का वह लेशमात्र भी गर्व नहीं करता, प्रत्युत गर्व करके दूसरेको

अपमानित करनेको महान् पाप एवं निंद्य कर्म समझने लगता है। इसलिए वह कभी किसी प्रकारका मद या अभिमान नहीं करता। किन्तु जो आत्मदर्शी नहीं हैं, बहिर्दृष्टि या मिथ्यात्वी हैं, वे ही जाति-कुलादिका मद करके अपने दोनों भवोंका विनाश कर लेते हैं और आत्म-हितसे वञ्चित रह जाते हैं।

अब आगे उक्त अर्थकी पुष्टि करते हुए शास्त्रकार मद करने वालोंके प्रति अपना हार्दिक दुःख प्रकट करते हैं—

तन्निश्चयमधुरमनुकम्पया सद्भिरभिहितं पथ्यम्।
तथ्यमवमन्यमाना रागद्वेषोदयोद्वृत्ताः ॥३५॥
जातिकुलरूपबललाभबुद्धिवाल्लभ्यकश्रुतमदान्धाः।
क्लीबाः परत्र चेह च हितमप्यर्थं न पश्यन्ति ॥३६॥

अभिमानी और राग-द्वेषसे भरे हुए ऐसे क्लीब या नपुंसक जन सन्त-महर्षियोंके द्वारा अति अनुकम्पासे कहे गये मधुर, हितकारक तथ्य (वास्तविक) पथ्य (रोग-नाशक और शक्तिवर्धक आहार) का तिरस्कार कर जाति, कुल, रूप, बल, लाभ, बुद्धि, लोक-प्रियता (पूजा-प्रतिष्ठा) और श्रुतके मदसे अन्ध होकर इस लोक और परलोक-सम्बन्धी आत्म-हितकी वस्तुको भी नहीं देखते है ॥३५–३६॥

जातिमद न करनेका उपदेश

ज्ञात्वा भवपरिवर्त्ते जातीनां कोटिशतसहस्रेषु।
हीनोत्तममध्यत्वं को जातिमदं बुधः कुर्यात् ॥३७॥
नैकान् जातिविशेपानिन्द्रियनिर्वृत्तिपूर्वकान् सत्त्वाः।
कर्मवशाद् गच्छन्त्यत्र कस्य का शाश्वता जातिः ॥३८॥

संसारमें परिभ्रमण करते हुए लाखों-करोड़ों जातियोंमें जन्म ले-लेकर असंख्य वार प्राप्त हुई अपनी नीच, ऊँच और मध्यम पर्यायों या अवस्थाओंको जान कर कौन बुद्धिमान् जातिमदको करेगा ? क्योंकि कर्मके वशसे ये संसारी प्राणी इन्द्रियोंकी रचनासे उत्पन्न होने वाली नाना जातियोंमें सदा जन्म लेता रहता है। यहाँ किसकी कौन जाति शाश्वत या स्थायी है ? अतः जातिका मद नहीं करना चाहिए ॥३७–३८॥

कुलमद न करनेका उपदेश

यस्याशुद्धं शीलं प्रयोजनं तस्य किं कुलमदेन ।
स्वगुणाभ्यलङ्कृतस्य हि किं शीलवतः कुलमदेन ॥३९॥
रूपबलश्रुतिमतिशीलविभवपरिवर्जितांस्तथा दृष्ट्वा ।
विपुलकुलोत्पन्नानपि ननु कुलमानः परित्याज्यः ॥४०॥

जिस मनुष्यका शील अर्थात् आचरण अशुद्ध या दूषित है, उसे कुलका मद करनेसे क्या प्रयोजन है ? और जो शीलवान् है, वह अपने ही गुणोंसे भूषित है, उसे भी कुलका मद करनेसे क्या लाभ है ? क्योंकि उसका सन्मान तो कुलमदके किये विना स्वयं ही होता है। तथा लोक-प्रसिद्ध विशाल या महान् कुलोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंको भी रूप, बल, शास्त्र-ज्ञान, बुद्धि, शील, सदाचार और सम्पत्तिसे रहित या हीन देखकर कुलके मदका परित्याग ही करना चाहिए ॥३९–४०॥

रूपमद करनेका उपदेश

कः शुक्रशोणितसमुद्भवस्य सततं चयापचयिकस्य ।
रोगजरापाश्रयिणो मदावकाशोऽस्ति रूपस्य ॥४१॥

नित्यपरिशीलनीये त्वग्मांसाच्छादिते कलुषपूर्णे ।
निश्चयविनाशधर्मिणि रूपे मदकारणं किं स्यात् ॥४२॥

माताके रज और पिताके वीर्यसे उत्पन्न हुए, सदैव घटने-बढ़नेवाले, तथा रोग और जरा (वार्धक्य या जीर्णता) के आश्रयभूत इस शरीरके सौन्दर्यका अभिमान करने या रूपका गर्व करनेके लिए अवकाश या स्थान ही कहाँ है ? यह शरीर नित्य ही संस्कारके योग्य है, चर्म और मांससे आच्छादित है, विविध जातिके कलुषित–घृणित मलोंसे परिपूर्ण है और नियमसे विनाश-स्वभावी है अर्थात् एक दिन नष्ट होनेवाला है, ऐसे शरीरके रूपमें मद करनेका क्या कारण है ? कुछ भी नहीं है । अतएव रूपका मद भी नहीं करना चाहिए ॥४१–४२॥

बलमद न करनेका उपदेश

बलसमुदितोऽपि यस्मान्नरः क्षणेन विबलत्वमुपयाति ।
बलहीनोऽपि च बलवान् संस्कारवशात्पुनर्भवति ॥४३॥
तस्मादनियतभावं बलस्य सम्यग्विभाव्य बुद्धिबलात् ।
मृत्युबले चाऽबलतां मदं न कुर्याद् बलेनापि ॥४४॥

यतः बलवान् भी मनुष्य क्षणभरमें बलहीन हो जाता है और बलहीन भी मनुष्य भीतरी शुभकर्मके उदयसे तथा बाहरी उत्तम-खान-पान एवं रसायनादिके सेवनरूप शारीरिक संस्कारसे पुनः बलवान् बन जाता है । अतएव अपने बुद्धिबलसे शारीरिक बलकी अनियतता अर्थात् अस्थिरताको सम्यक् प्रकारसे विचार कर, तथा मृत्युबलके सम्मुख शारीरिक बलकी निर्बलताका अनुभवकर बलका मद भी नहीं करना चाहिए ॥४३–४४॥

ऋद्धिलाभ या धनमद न करनेका उपदेश

उदयोपशमनिमित्तौ लाभालाभावनित्यकौ मत्वा ।
नालाभे वैक्लव्यं न च लाभे विस्मयः कार्यः ॥४५॥

लाभान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे अर्थका लाभ होता है और लाभान्तरायकर्मके उदयसे अर्थका अलाभ या धनकी हानि होती है, अतएव लाभ भी नित्य नहीं है और अलाभ भी नित्य नहीं रहनेवाला है, ऐसा मानकर अलाभमें विकल नहीं होना चाहिए और लाभके होनेपर विस्मय (गर्व) भी नहीं करना चाहिए ॥४५॥

बुद्धि या ज्ञानमद नहीं करनेका उपदेश

ग्रहणोद्ग्राहणनवकृतिविचारणार्थावधारणाद्येषु ।
बुद्ध्यङ्गविधिविकल्पेष्वनन्तपर्यायवृद्धेषु ॥४६॥
पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।
श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः कथं स्वबुद्ध्या मदं यान्ति ॥४७॥

ग्रहण, उद्ग्राहण, नवकृति-सर्जन, अर्थ-विचारण और अर्थ-अवधारण आदि बुद्धि-ऋद्धिके अङ्गभूत विविध भेदोंमें—जो कि परस्परमें अनन्त-पर्यायोंकी वृद्धिको लिये हुए हैं—पूर्व पुरुष सिंहोंकी विज्ञानातिशयताको सुनकर और उनके ज्ञानार्णवकी अनन्तताको जानकर वर्तमानकालके पुरुष कैसे अपनी बुद्धिके मदको प्राप्त होते हैं ? ॥४६–४७॥

विशेषार्थ—अपूर्व या नवीन आगमसूत्र और उनके अर्थको हृदयङ्गम करनेवाली शक्तिको ग्रहण बुद्धि कहते है । गृहीत सूत्रार्थ का दूसरेको पढ़ाना उद्ग्राहण कहलाता है । नित्य नवीन ग्रन्थकी रचना करनेको नवकृति-सर्जन कहते हैं । आत्मा, कर्म, बन्ध और

मोक्ष जैसे सूक्ष्म तत्त्वोंकी जिज्ञासा एवं अर्थ-चिन्तनको अर्थ-विचारण कहते हैं। गुरु-मुखसे निकले हुए शब्द और अर्थको एक बार ही सुनकर चिरकाल तक विस्मरण नहीं होनेकी शक्तिको अर्थ-अवधारण कहते हैं। ये सब बुद्धि-ऋद्धिके भेद हैं, इनके अतिरिक्त बुद्धि-ऋद्धि के और भी सैकड़ों भेद परमागममें बतलाये गये है, तथा श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानके जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट तकके असंख्य भेद भी आगममें वर्णित हैं। जो कि परस्परमें आंशिक वृद्धिको लिये हुए अनन्त हैं। हमारे पूर्वज इन सभी बुद्धि ऋद्धियोंके धारक हुए हैं और अनेक पुरुष-सिंह या पुरुषोत्तमोंने कैवल्य प्राप्तकर ज्ञानार्णवका भी पार प्राप्त किया है, उनके सामने आजकलकी क्षुद्रबुद्धिवाले हम लोगोंका ज्ञान ही कितना-सा है? ऐसा जानकर बुद्धिमानोंको अपनी बुद्धिका, ज्ञानवानोंको अपने ज्ञानका, श्रुतधरोंको अपने श्रुतका अभिमान नहीं करना चाहिए।

लोक-प्रियताका मद न करनेका उपदेश

गर्वं परप्रसादात्मकेन वाल्लभ्यकेन यः कुर्यात्।
तद्वाल्लभ्यकविगमे शोकसमुदयः परामृशति ॥४८॥

जो दूसरोंके प्रसादसे प्राप्त होनेवाली लोकवल्लभता, प्रभुता या जनप्रतिष्ठाका गर्व करता है, वह उस प्रतिष्ठाके विनष्ट हो जाने पर महान् शोकका अनुभव करता है। अतएव लोकप्रियता, प्रतिष्ठा या प्रभुताका भी मद नहीं करना चाहिए ॥४८॥

श्रुतमद नहीं करनेका उपदेश

माषतुषोपाख्यानं श्रुतपर्यायप्ररूपणां चैव।
श्रुत्वाऽतिविस्मयकरं विकरणं स्थूलभद्रमुनेः ॥४९॥

सम्पर्कोद्यमसुलभं चरणकरणसाधकं श्रुतज्ञानम् ।
लब्ध्वा सर्वमदहरं तेनैव मदः कथं कार्यः ॥५०॥

माष-तुष मुनिके उपाख्यानको, श्रुतज्ञानके भेदोंकी प्ररूपणाको और स्थूलभद्रमुनिकी विस्मयकारिणी विक्रियाको सुनकर कौन बुद्धिमान् श्रुतका मद करेगा ? आगम-ज्ञानियोंके सम्पर्कसे और अपने पुरुषार्थसे सुलभ अर्थात् अनायास प्राप्त होनेवाले, चरण (मूल गुण) और करण (उत्तर गुण) के साधक, तथा सर्व मदोंके हरनेवाले ऐसे श्रुतज्ञानको पाकर उसका मद कैसे किया जा सकता है ॥४९-५०॥

भावार्थ—सद्भावसे ग्रहण किये गये अल्प भी श्रुतज्ञानसे मनुष्य निर्वाणको प्राप्त हो सकता है। 'माषतुष' मुनि मन्दबुद्धि होनेके कारण शास्त्राभ्यास करनेमें असमर्थ रहे। उनपर अनुग्रह करके गुरुने उन्हें दो पद सिखा दिये—'मा रूस' और 'मा तूस' अर्थात् किसीसे राग मत करो और द्वेष मत करो। याद करते करते ये दोनों पद भूल गये और 'मास तुस' याद रह गया। उसका उच्चारण करते हुए इतने मात्र अल्प ज्ञानसे ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। अतएव मैं अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता हूँ, ऐसा मान नहीं करना चाहिए। श्रुतज्ञानके अनेक भेद हैं, कोई विशिष्ट क्षयोपशमसे अधिक जानता है और कोई मन्द क्षयोपशमसे अल्प जानता है। सबकी बुद्धि समान नहीं होती, इसलिए भी श्रुतका मद नहीं करना चाहिए। स्थूलभद्र मुनिको विद्यानुवाद-पूर्वके अभ्याससे विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई और गर्वमें आकर उन्होंने सिंहका रूप बनाकर दर्शनार्थ आई हुई साध्वियोंको भय-भीत कर

दिया। जिससे खिन्न होकर भद्रबाहु श्रुतकेवलीने उन्हें आगेके पूर्वोका पढ़ाना बन्द कर दिया और इस प्रकार श्रुतज्ञानकी परम्परा का विच्छेद हो गया। इन सब घटनाओंको सुनकर कौन बुद्धिमान् श्रुतका मद करेगा।

मद करनेका फल

जात्यादिमदोन्मत्तः पिशाचवद् भवति दुःखितश्चेह।
जात्यादिहीनतां परभवे च निःसंशयं लभते ॥५१॥
परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभयमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥५२॥

जाति कुलादिके मदसे उन्मत्त हुआ मनुष्य इस भवमें पिशाचके समान दुःखी होता है और परभवमें नियमसे जाति और कुलादिकी हीनताको प्राप्त होता है, अर्थात् नीच जाति और नीच कुलादिमें जन्म पाता है। दूसरेका तिरस्कार और निन्दा करनेसे, तथा अपनी प्रशंसा और अभिमान करनेसे सदा भयको देनेवाला और अनेक कोटि भवों तक भी नहीं छूटनेवाला ऐसा निन्द्य-नीचगोत्र कर्म बँधता है ॥५१–५२॥

भावार्थ—सांसारिक ऐश्वर्य, उत्तम जाति और कुलादिकी प्राप्ति कर्मके आधीन है। आज जो अपने उच्च कुलीन होनेका मद करता है, वही आगामी भवमें नीच कुलमें जन्म लेता देखा जाता है। आज जो अपने ज्ञान या धन-वैभवादिका मद करता है वही कल अज्ञानी और दरिद्र-भिखारी बना दृष्टिगोचर होता है, अतः इन विनश्वर वस्तुओंका क्या गर्व करना? गर्व तो उस वस्तुका करना चाहिए जो कि अपनी है और सदा काल अपने पास रहने-

वाली है। यही कारण है कि आचार्योंने जाति कुलादिके मद करने को अज्ञान कहा है। इतना ही नहीं, जो गर्व करता है, वह अपने ही धर्मका अपमान करता है। आगे इसी बातका उपदेश करते हैं।

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥५३॥

जो पुरुष अभिमान युक्त होकर गर्वके द्वारा अन्य धर्मात्मा जनोंका अपमान करता है, वह अपने ही धर्मका अपमान करता है, क्योंकि, धर्म धर्मात्माओंके विना नहीं रह सकता है ॥५३॥

छः अनायतन

कुदेवः कुमतालम्बी कुशास्त्रं कुत्सितं तपः।
कुशास्त्रज्ञः कुलिङ्गीति स्युरनायतनानि षट् ॥५४॥

कुदेव, कुमतका आलम्बन करने वाला सेवक, कुशास्त्र, कुतप, कुशास्त्रज्ञ और कुलिङ्ग ये छह अनायतन हैं ॥५४॥

भावार्थ—जो धर्मके आधार नहीं हैं, उन्हें अनायतन कहते हैं। इन छह अनायतनोंके सेवनसे मिथ्यात्व ही बढ़ता है; जीवका कोई भी सच्चा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके विघातक २५ दोषोंका निरूपण कर और उनके त्यागनेका उपदेश देकर अब सम्यग्दर्शनके भेदोंका वर्णन करते है—

द्विविधं त्रिविधं दशविधमाहुः सम्यक्त्वमात्महितमतयः।
तत्त्वश्रद्धानविधिः सर्वत्र च तत्र समवृत्तिः ॥५५॥

आत्माके हितमें जिनकी बुद्धि संलग्न है, ऐसे महर्षियोंने सम्यग्-

दर्शनके दो भेद, तीन भेद और दश भेद कहे हैं, तथापि उन सब भेदोंमें तत्त्व-श्रद्धानका विधान समान रूपसे बतलाया गया है ।५५।

भावार्थ—यद्यपि निश्चयसे आत्मश्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शन एक रूप ही है, तथापि भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे आचार्योंने उसके दो, तीन और दश भेद भी किये हैं, जिनका वर्णन आगे किया जायगा । यहाँ इतना ज्ञातव्य है कि इन सब भेदोंमें तत्त्वोंका श्रद्धान या आत्म-दर्शन समान रूपसे आवश्यक माना गया है ।

सम्यग्दर्शनके दो भेद

सराग-वीतरागात्मविषयत्वाद् द्विधा स्मृतम् ।
प्रशमादिगुणं पूर्वं परं चात्मविशुद्धिभाक् ॥५६॥

सराग और वीतराग आत्माको विषय करनेसे सम्यग्दर्शन दो प्रकारका माना गया है, अर्थात् एक सरागसम्यक्त्व और दूसरा वीतरागसम्यक्त्व । जो सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चारों गुणोंके साथ व्यक्त होता है, उसे सराग सम्यक्त्व कहते हैं और जो केवल आत्माकी निर्मल विशुद्धिको धारण करता है, उसे वीतरागसम्यक्त्व कहते हैं ॥५६॥

१. प्रशम गुण

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम् ।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥५७॥

राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, मोह, लोभ आदिक दोषोंमें—चित्तकी वृत्तिके शान्त हो जानेको प्रशम कहते हैं । इस गुणको विद्वानोंने समस्त व्रतोंका आभूषण कहा है, क्योंकि मनोवृत्तिके शान्त हुए विना, व्रत, तप, संयम आदि सब निष्फल माना गया है ॥५७॥

२. संवेगगुण

शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भयात् ।
स्वप्नेन्द्रजालसङ्कल्पाद्भीतिः संवेगमुच्यते ॥५८॥

शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक वेदनाओंसे उत्पन्न हुए, स्वप्न या इन्द्रजालके सदृश भयसे जो भीति उत्पन्न होती है, उसे संवेग कहते है ॥५८॥

भावार्थ—इस गुणके उत्पन्न हो जाने पर सम्यग्दृष्टि जीवके समस्त सांसारिक पदार्थोंमें अनासक्ति जागृत हो जाती है और इसी कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष सांसारिक भोगोंमें आसक्त नहीं होता, उसे इस बातका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि सांसारिक पदार्थोंका समागम स्वप्न या इन्द्रजालके तुल्य क्षण-भंगुर है अतः वह निरन्तर अनासक्त होकर ही अपने लौकिक व्यवहारको चलाता है ।

३. अनुकम्पा गुण

सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः ।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥५९॥

सर्व प्राणिमात्रपर चित्त दयार्द्र होनेको अनुकम्पा कहते हैं । दयालु पुरुषोंने धर्मका परम मूल कारण अनुकम्पा (दया) को कहा है ॥५९॥

भावार्थ—रोगी, शोकी या दुखी प्राणी जिस प्रकार अपने दुःखका अनुभव करता है, उसे देखकर तदनुकूल दुःखका संवेदन करना, उसके दुःखको दूर करनेका विचार करना, प्रतीकार करना,

सो अनुकम्पा है। इसी अनुकम्पाको धर्मका मूल माना गया है। सम्यग्दृष्टि पुरुषमें यह अनुकम्पा गुण नियमसे जागृत हो जाता है।

४. आस्तिक्यगुण

आप्ते श्रुतिव्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंयुतम्।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे नरे ॥६०॥

आप्तमें, आगममें, व्रतमें, तत्त्वमें और मोक्षमार्गके धारक पुरुषके विषयमें अस्तित्वसे संयुक्त मतिके होनेको आस्तिक पुरुषोंने आस्तिक्यगुण कहा है ॥६०॥

भावार्थ—जिसे यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि जीव, अजीवादि सात तत्त्व हैं, अपने भले-बुरे कर्म-फलको यह जीव ही भोगता है, इहलोक, परलोक आदि हैं और उनमें अपने कृत कर्मानुसार ही जीव जाता-आता है, इस प्रकारकी आस्तिकबुद्धिको आस्तिक्यगुण माना गया है।

उपर्युक्त चार गुणोंसे युक्त दशवें गुणस्थान तकके सरागी जीवोंके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे सराग सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जानेके पश्चात् आत्मामें निरन्तर निर्मलताका विकास होने लगता है, और जब वह निर्मलता अपनी चरम सीमाको पहुँच जाती है, उस समय आत्मामें वीतराग भावके साथ जो विशुद्धि जागृत होती है, उसे वीतरागसम्यक्त्व कहते हैं। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानसे लेकर ऊपरके सर्व गुणस्थानवर्ती जीवोंका सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यग्दर्शनके तीन भेद

कर्मणां क्षयतः शान्तेः क्षयोपशमतस्तथा ।
श्रद्धानं त्रिविधं बोध्यं गतौ सर्वत्र जन्तुषु ॥६१॥

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा दर्शन मोहनीय इन कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले सम्यक्त्वको क्षायिकसम्यग्दर्शन, उपशमसे होनेवाले सम्यक्त्वको औपशमिकसम्यग्दर्शन और क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले सम्यक्त्वको क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन कहते है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके तीन भेद जानना चाहिए। ये तीनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शन चारों गतियोंमें यथासंभव सर्व प्राणियोंमें पाये जाते हैं ॥६१॥

विशेषार्थ—यद्यपि तीनों ही सम्यक्त्व चारों गतियोंमें पाये जाते हैं पर इतना विशेष जानना चाहिए कि क्षायिकसम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति केवल मनुष्यगतिमें ही होती है। हाँ, इतना विशेष जानना चाहिए कि यदि उसने क्षायिकसम्यक्त्वकी प्राप्तिके पूर्व मिथ्यात्व-दशामें नरक या तिर्यचकी आयु बाँध ली है, तो उन गतियोंमें भी उत्पन्न हो सकता है, और इस प्रकार चारों गतियोंमें क्षायिकसम्यक्त्वका अस्तित्व पाया जाता है।

क्षायिकसम्यक्त्वका स्वरूप

दृग्मोहक्षयसंभूतौ यच्छ्रद्धानमनुत्तरम् ।
भवेत्तत्क्षायिकं नित्यं कर्मसंघातघातकम् ॥६२॥

नानावाग्भिर्बहूपायैर्भीष्मरूपैश्च दुर्धरैः ।
त्रिदशाद्यैर्न चाल्येत तत्सम्यक्त्वं कदाचन ॥६३॥

क्षायिकीदृक्क्रियारम्भी केवलिक्रमसन्निधौ ।
कर्मक्ष्माजो नरस्तत्र क्वचिन्निष्ठापको भवेत् ॥६४॥

क्षयस्यारम्भको यत्र परं तस्माद्भवत्रयम् ।
अनतिक्रम्य निर्वाति क्षीणदर्शनमोहतः ॥६५॥

दर्शनमोहनीयकर्मके क्षय हो जाने पर जो अनुपम लोकोत्तर, नित्य स्थायी और शेष कर्मसमुदायका घातक श्रद्धान होता है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। क्षायिकसम्यक्त्वी जीवका सम्यक्त्व या श्रद्धान युक्ति—दृष्टान्त आदिसे युक्त नाना प्रकारके तर्क-गर्भित वचनोंसे, सांसारिक प्रलोभनरूप अनेक उपायोंसे, भयङ्कर रूपोंके दिखानेसे, दुर्धर परीषह और असह्य यातनाओंके देनेसे भी कदापि चलायमान नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि स्वर्गके सारे देवता आकर भी उसे अपने श्रद्धानसे नहीं डिगा सकते। वज्रपात होने पर और प्रलयकालमें त्रैलोक्यके क्षोभित हो जाने पर भी क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव अडोल और अकम्प बना रहता है, कोई भी शक्ति उसे अपने श्रद्धानसे कदाचित् भी चल-विचल नहीं कर सकती। इस क्षायिकसम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका प्रारम्भ अरहन्त केवली या द्वादशाङ्गश्रुतके पारगामी श्रुतकेवलीके चरण-सान्निध्य अर्थात् उनके चरण-शरणमें समुपस्थित कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ मनुष्य ही करता है। हाँ, उसकी निष्ठापना या पूर्णता किसी भी गतिमें की जा सकती है। दर्शनमोहनीयकर्मसे क्षयका प्रारम्भ करनेवाला मनुष्य संसारमें तीन भवसे अधिक नहीं रहता। अर्थात् दर्शनमोहके क्षीण हो जाने पर अधिकसे अधिक वह संसारमें तीन बार और जन्म

लेगा। उसके पश्चात् नियमसे निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो जायगा ॥६२–६५॥

औपशमिकसम्यग्दर्शनका स्वरूप

भव्यः पञ्चेन्द्रियः पूर्णः लब्धकालादिलब्धिकः ।
पुद्गलार्धपरावर्ते काले शेषे स्थिते सति ॥६६॥

अन्तर्मुहूर्त्तकालेन निर्मलीकृतमानसः ।
आद्यं गृह्णाति सम्यक्त्वं कर्मणां प्रशमे सति ॥६७॥

निशीथं वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम् ।
पश्चादायाति मिथ्यात्वं सम्यक्त्वस्यास्य निश्चितम् ॥६८॥

अर्ध-पुद्गलपरिवर्तनकाल-प्रमाण संसार-वासके शेष रह जाने पर जिसे काललब्धि आदि योग्य सामग्रीका संयोग प्राप्त हुआ है, ऐसा किसी भी गतिका संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक भव्यजीव विशुद्ध परिणामोंकी प्राप्तिरूप करणलब्धिके प्रसादसे अन्तर्मुहूर्त्तकालके द्वारा अपने मानसको निर्मल करता हुआ अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोहनीय कर्मका प्रशमन होनेपर प्रथम वार आद्य औपशमिक-सम्यक्त्वको ग्रहण करता है। सो जिस प्रकार निर्मल दिनके पश्चात् मलीमस (अन्धकार-व्याप्त) रात्रि आती है, उसी प्रकार इस प्रथम वार प्राप्त हुए सम्यक्त्वके पश्चात् नियमसे मिथ्यात्वका उदय आ जाता है ॥६६–६८॥

भावार्थ—यहाँ कुछ बातें ज्ञातव्य हैं। पहली बात तो यह कि जब किसी जीवका संसार-वास अल्प रह जाता है, (जिसे कि

जैन शास्त्रोंकी परिभाषामें अर्धपुद्गल परिवर्तन[1]-प्रमाण कहा है), जब जीवके सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेकी योग्यता आती है, उसके पूर्व वह कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, पर सम्यक्त्वको नहीं पा सकता, क्योंकि उसके भीतर वह योग्यता ही उत्पन्न नहीं होती, जिससे कि वह सम्यक्त्वको पा सके। दूसरी बात यह है कि संसार-वासके अल्प रह जाने पर भी यदि योग्य सामग्रीरूप देशना आदि पाँच लब्धियों[2] की प्राप्ति जब तक नहीं होगी तब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होगा। तीसरी बात यह है कि प्रथम बार उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन अन्तर्मुहूर्त्तकालसे अधिक नहीं ठहर सकता। जैसे सावन की घन-घोर रात्रिमें एक बार बिजली चमक जाने पर प्रकाश दृष्टिगोचर होता है और उसके तत्काल बाद ही चारों ओर अँधेरा दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीवके औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर एक बार कुछ क्षणके लिए आत्माका प्रकाश दृष्टिगोचर होता है और आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। किन्तु आत्मसाक्षात्कारकी यह दशा अधिक देर नहीं रहती है। चौथी बात यह है कि प्रथम बार प्राप्त हुए औपशमिक सम्यग्दर्शनके पश्चात् नियमसे मिथ्यात्व कर्मका उदय आता है और वह औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव पुनः मिथ्यात्वरूप पातालमें गिरकर डूब जाता है। किन्तु उसके पश्चात् प्रयत्न करने पर उस जीवको औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति फिर भी हो सकती है।

---

१. देखो परिशिष्टमें पारिभाषिक शब्दकोष। विशेषके लिए सर्वार्थसिद्धिके दूसरे अध्यायमें १० वें सूत्रकी टीका।

२. देखो परिशिष्टमें पारिभाषिकशब्दकोष। विशेषसे लिए लब्धिसार।

तदनन्तर यह जीव कुछ विशिष्ट पुरुषार्थ करता है और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है, जो कि एक बहुत लम्बे समय तक अर्थात् अनुकूल सामग्री बने रहने तक बना रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका स्वरूप

क्षीणोदयेषु मिथ्यात्वमिश्रानन्तानुबन्धिषु।
लब्धोदये च सम्यक्त्वे क्षायोपशमिकं भवेत् ॥६९॥

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन छह कर्मोंके क्षयोपशम होने पर तथा सम्यक्त्व-प्रकृतिके उदय होने पर जो सम्यग्दर्शन होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं ॥६९॥

विशेषार्थ—आगे कर्मोंके आठ भेद बतलाये गये हैं, उनमें सबसे प्रधान कर्म मोहनीय है। इसे कर्मोंका सम्राट् कहा जाता है। इसके मूलमें दो भेद है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय कर्म आत्माके सम्यग्दर्शनगुणका और चारित्रमोहनीय कर्म आत्माके चारित्रगुणका घात करता है। चारित्रमोहनीयकर्मके भी दो भेद हैं—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। कषायवेदनीयके सोलह भेद है। जो इस प्रकार है—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इनमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाय भी दर्शनमोहनीयके साथ जीवके सम्यग्दर्शन गुणको प्रकट नहीं होने देते है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान, माया, लोभके उदयसे जीव भाव गृहस्थधर्मको

धारण करनेके नहीं होते हैं। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे मुनिधर्मको धारण करनेके भाव नहीं होते हैं। तथा संज्वलन कषायके उदयसे जीवका यथार्थ स्वरूप नहीं प्रकट होने पाता। दर्शनमोहनीय कर्मके तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। दर्शनमोहनीयके इन तीनों भेदोंमेंसे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषायोंका जब जीवके क्षयोपशम हो और सम्यक्प्रकृतिका उदय हो, उस समय जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे क्षयोपशम या वेदकसम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यग्दर्शनवाले जीवके परिणाम यद्यपि तत्त्वार्थश्रद्धान पर दृढ़ रहते हैं, तथापि सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे उसमें कुछ चंचलता बनी रहती है, क्वचित् कदाचित् शंकादि दोष भी उठते हैं। किन्तु क्षायिकसम्यग्दर्शनको छोड़कर संसारी जीवोंके अधिक समय तक स्थिर रहनेवाला यही सम्यग्दर्शन है। उक्त तीनों ही सम्यग्दर्शनोंका अन्तरंग कारण तो दर्शनमोहनीयादि कर्मोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशम ही है किन्तु वहिरंगमें प्रवेदना, पूर्वभवका स्मरण, धर्मश्रवण, जिन-बिम्बदर्शनादि यथासंभव निमित्त पाकर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है।

सम्यग्दर्शनके दश भेद

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढे च ॥७०॥

सम्यग्दर्शनके विस्तृत-कथनकी अपेक्षा दश भेद माने गये हैं— १ आज्ञासम्यग्दर्शन, २ मार्गसम्यग्दर्शन, ३ उपदेशसम्यग्दर्शन, ४ सूत्रसम्यग्दर्शन, ५ बीजसम्यग्दर्शन, ६ संक्षेपसम्यग्दर्शन, ७ विस्तार-

सम्यग्दर्शन, ८ अर्थसम्यग्दर्शन, ९ अवगाढसम्यग्दर्शन और १० परमावगाढसम्यग्दर्शन ॥७०॥

विशेषार्थ—शास्त्राभ्यासके विना केवल वीतराग जिनेन्द्रदेवकी आज्ञासे ही जो तत्त्वोंपर विशिष्ट रुचि उत्पन्न होती है, उसे आज्ञा-सम्यक्त्व कहते है। सम्यक्त्वघातक मोहकर्मके उपशान्त होनेसे शास्त्राध्ययनके विना ही बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित कल्याण-कारक मोक्षमार्गका श्रद्धान करना मार्गसम्यक्त्व है। तीर्थङ्करादि महापुरुषोंके उपदेश सुननेसे जो समीचीन दृष्टि उत्पन्न होती है उसे उपदेशसम्यक्त्व कहते है। मुनियोंके आचारको प्रकट करनेवाले आचाराङ्गसूत्रको सुनकर जो श्रद्धान हो, वह सूत्रसम्यग्दर्शन है। गहन और विशाल अर्थके बोधक बीजपदोंसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो, वह बीजसम्यग्दर्शन है। जीवादि पदार्थोंको संक्षेपसे ही जान कर जो साधु दृष्टि उत्पन्न होती है, वह संक्षेपसम्यग्दर्शन है। सम्पूर्ण द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानको सुनकर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे विस्तारसम्यग्दर्शन कहते हैं। परमागमके विना ही जिस किसी पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनको अर्थसम्यग्दर्शन कहते है। अंगबाह्य और अंगप्रविष्टरूप द्वादशांग श्रुतज्ञानके अवगाहनसे उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनको अवगाढसम्यग्दर्शन कहते है। केवलज्ञानके द्वारा अवलोकित अर्थमें जो परम दृढ़ श्रद्धान होता है वह परमावगाढसम्यग्दर्शन है।

असंयतो निजात्मानमेकवारं दिनं प्रति।
ध्यायत्यनियतं कालं नो चेत्सम्यक्त्वदूरगः ॥७१॥

व्रत-संयमसे रहित भी अविरत या असंयतसम्यग्दृष्टि जीव

प्रति दिन एक बार तो कमसे कम कुछ समय तक अनियतकालमें अपनी आत्माका ध्यान करता ही है। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो वह सम्यग्दर्शनसे दूर है ॥७१॥

भावार्थ—यद्यपि अविरतसम्यग्दृष्टि जीव कोई भी व्रत, नियम, शील-संयमादिका पालन नहीं करता है, तथापि वह दिनमें एक बार जब भी सांसारिक झंझटोंसे अवसर मिलता है, अपनी आत्माके स्वरूपका चिन्तवन करता ही है। आत्म-स्वरूपका चिन्तवन या ध्यान विना किसी आधारके या आदर्शके संभव नहीं है। अतएव पञ्च-परमेष्ठीको आदर्श मान करके उनके आधारसे आत्म-स्वरूपका चिन्तवन करता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शनके धारण करने-वाले पुरुषको 'पञ्चगुरुचरणशरणः' या 'परमेष्ठीपदैकधी' जैसे विशे-षणोंके साथ स्मरण किया गया है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँचोंको वीतरागतारूप परमपदमें अवस्थित होनेके कारण पञ्चपरमेष्ठी कहते हैं। वस्तुतः ये पञ्चपरमेष्ठी क्या हैं? आत्माकी क्रमसे विकसित अवस्थाओंके नाममात्र हैं। जब कोई जीव बहिरात्मापन छोड़कर अन्तरात्मा बन जाता है और अपनेको भव-बन्धनसे मुक्त करनेके लिए अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग परिग्रहका त्याग करके संन्यासी बन जाता है, तब उसे साधु परमेष्ठी कहते हैं। जब वे ही साधुपरमेष्ठी विशिष्ट ज्ञानी बन जाते हैं और स्वयं अध्ययन करते हुए दूसरे साधुओंको शास्त्र पढ़ाने लगते हैं, तब उन्हें उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। जब वे ही पठन-पाठन करनेवाले उपाध्याय संघके अधिपति बनकर संघको सदाचार-का पाठ पढ़ाने लगते हैं, तब उन्हें आचार्यपरमेष्ठी कहने लगते हैं।

जब वे ही आचार्य अपनी विशिष्टसाधनाके बलपर चार घातिया कर्मोंका नाश करके संसारको सुख-शान्तिका सन्देश देने लगते है, तब उन्हें अरहन्तपरमेष्ठी कहने लगते है और जब वे अरहन्त-परमेष्ठी सर्व कर्मोंका नाश करके शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, निर्विकार अवस्थाको प्राप्त कर लेते है, तब उन्हें ही सिद्धपरमेष्ठी कहते हैं। इस प्रकार साधकको आत्म-चिन्तनके लिए पञ्चपरमेष्ठीकी उपासना करनेका विशेषरूपसे विधान किया गया है और उसके लिए यहाँ तक कहा गया है कि यदि वह दिनमें एक वार भी अपनी आत्माका—या प्रकारान्तरसे पञ्चपरमेष्ठीका ध्यान या चिन्तवन नहीं करता है, तो वह सम्यग्दर्शनसे बहुत दूर है।

सम्यग्दृष्टि जीव जिन पञ्चपरमेष्ठियोंका सदा स्मरण करता है, उनके नामका जप और ध्यान करता है और जिनके आधार या आश्रयसे आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करना चाहता है, उनके नामका नमस्कारात्मक अनादि मूलमन्त्र इस प्रकार है—

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥७२॥

लोकमें विद्यमान अरहन्तोंको नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपाध्यायोंको नमस्कार हो और सर्व अर्थात् प्राणिमात्रका हित चाहनेवाले साधुओंको नमस्कार हो ॥७२॥

अरहन्तपरमेष्ठीका स्वरूप

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥७३॥

अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात् ।
महादेवोऽधिदेवत्वाच्छङ्करोऽपि सुखावहात् ॥७४॥
विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथञ्चन ।
ब्रह्म ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥७५॥
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् ।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥७६॥

जो शारीरिक विकारोंसे रहित दिव्य औदारिक शरीरमें स्थित हैं, घातिकर्म-चतुष्टयको धो चुके हैं, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखसे परिपूर्ण हैं और धर्मका उपदेश देते हैं, वे अरिहन्त परमेष्ठी हैं। ये अरिहन्त परमेष्ठी जगत्पूज्य हैं, इसलिए, 'अरहन्त' कहलाते हैं; कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, इसलिए 'जिन' कहलाते हैं, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी इन चार जातिके समस्त देवोंके स्वामी हैं, इसलिए 'महादेव' कहलाते हैं, प्राणिमात्रको सुखके देनेवाले हैं, इसलिए 'शंकर' कहलाते हैं, ज्ञानकी अपेक्षा समस्त पदार्थोंमें व्यापक हैं, इसलिए 'विष्णु' कहलाते हैं, ब्रह्म-स्वरूपके परम ज्ञायक हैं, इसलिए 'ब्रह्मा' कहलाते हैं, और जगत्के दुःखोंको हरनेवाले हैं, इसलिए 'हरि' कहलाते हैं। इत्यादि प्रकारसे वे अरहन्तदेव अनेक नामोंवाले है, तथापि अपने देवत्व लक्षणकी अपेक्षा एक ही हैं, अनेक नहीं हैं; क्योंकि, अनन्त गुणात्मक एक चेतनद्रव्य ही साधक-युक्तियोंसे सर्वमें समानरूपसे सिद्ध है ॥७३–७६॥

सिद्धपरमेष्ठीका स्वरूप

मूर्त्तिमद्देहनिर्मुक्तो मुक्तो लोकाग्रसंस्थितः ।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतः निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥७७॥

जो मूर्तिमान् शरीरसे मुक्त हैं, आठों कर्मोंसे रहित हैं, लोकके अग्रभागमें स्थित है, ज्ञानादि आठ गुणोंसे सम्पन्न हैं, और कर्म-मल-कलंकसे रहित होनेके कारण निष्कर्मा है, उन्हें सिद्धपरमेष्ठी कहते हैं ॥७७॥

सिद्धोंके आठ गुण

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यञ्चेति चतुष्टयम् ॥७८॥
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः ।
अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः ॥७९॥

सम्पूर्ण ज्ञानावरणीयकर्मके क्षय हो जानेसे क्षायिक ज्ञान, समस्त दर्शनावरणीय कर्मके क्षय हो जानेसे क्षायिक दर्शन, समस्त मोहकर्मके क्षय हो जानेसे अतीन्द्रिय क्षायिक सुख, समस्त अन्तरायकर्मके क्षय हो जानेसे आत्मोत्पन्न क्षायिक वीर्य, तथा क्षायिक सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाध और अगुरुलघुत्व ये आठ मुख्य गुण सिद्धपरमेष्ठीमें पाये जाते हैं ॥७८–७९

भावार्थ—वस्तुतः सिद्धपरमेष्ठीमें अनन्तगुण होते हैं, किन्तु आठ कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होनेके कारण इन गुणोंको प्रधानता दी गई है ।

आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठीका स्वरूप

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः ।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः ॥८०॥

अर्हन्त, सिद्ध परमेष्ठीके अतिरिक्त आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन प्रकारके परमेष्ठी और भी होते हैं, यद्यपि बाह्यदृष्टिसे

तीनोंका वेष एक है, तथापि ये तीनों ही मुनिकुंजर विशिष्ट विशिष्ट पदोंपर आरूढ़ होनेके कारण उक्त संज्ञाओंके धारक हैं ॥८०॥

तीनों ही परमेष्ठियोंमें साधुपना समान है

एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको बहिः समः ।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकञ्च पञ्चधा ॥८१॥
त्रयोदशविधं चापि चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोऽप्येकधा मतः ॥८२॥
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥८३॥
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः ।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिःस्थितम् ॥८४॥
ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥८५॥

आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन तीनों परमेष्ठियोंका अन्तरंग कारण समान है, अर्थात् प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशम सबके हैं, क्रिया भी तीनोंकी एक समान है, बाह्य वेष भी एक है, बारह प्रकारका तप भी तीनोंके समान है, पाँच प्रकारका महाव्रत धारण भी तीनोंके एक समान है, तेरह प्रकारके चारित्रका पालन भी समान है, समता भी समान है, मूलगुण और उत्तरगुण भी समान ही हैं, संयम भी समान है, परीषह और उपसर्गोंका सहना भी समान है, आहार आदिकी विधि भी तीनोंकी समान है, चर्या, स्थान, आसन आदि भी समान हैं, तीनोंका मोक्षमार्ग भी समान है, अन्तरंग और बहिरंग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रस्वरूप रत्नत्रय भी तीनोंके समान हैं, ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और

दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप ये चार आराधना भी समान हैं, क्रोधादि कषायोंका जीतना और उत्तम क्षमादि दश धर्मोंका धारण करना भी समान है ॥८१-८५॥

यद्यपि तीनों परमेष्ठियोंकी अन्तरंग और बहिरंगमें प्राय: समता है, तथापि उनमें जो विशिष्ट पदोंको धारण करनेसे विशेषता है, उसे कहते हैं:—

आचार्यपरमेष्ठीका विशिष्ट स्वरूप

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते ।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥८६॥
अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः ।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥८७॥

आचार्य संज्ञा अनादिकालसे नियत है, क्योंकि, पंच परमेष्ठियोंकी सत्ता अनादिकालीन है । निरुक्त्यर्थकी अपेक्षा भी आचार्य संज्ञा है । अर्थात् जो महासंयमी साधु दूसरे मुनियोंको दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य:—इन पंच आचारोंका आचरण कराता है, वह आचार्य कहलाता है । तथा, जिस किसी साधुके व्रत-भंग हो जाने पर यदि वह साधु उस व्रतको पुन: धारण करना चाहता है, तो आचार्य उस व्रतको फिरसे धारण कराते हुए उस साधुको प्रायश्चित्त देते हैं ॥८६-८७॥

उक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी ।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥८८॥

जो ऊपर कहे गये व्रत, तप, शील, संयम आदिका धारण करनेवाला है, वही गणका स्वामी आचार्य कहा जाता है, और

वही नमस्कार करनेके योग्य है। इससे भिन्न स्वरूपका धारक भले ही गणका स्वामी हो तो भी आचार्य नहीं कहलायगा ॥८८॥

उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप

उपाध्यायः समाधीयात् वादी स्याद्वादकोविदः।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥८९॥
कविर्वृत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात्।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥९०॥
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासो हि कारणम्।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद् गुरुः ॥९१॥
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नाऽऽदेशं सूरिवत् क्वचित् ॥९२॥
तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥९३॥
मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम्।
परीषहोपसर्गाणं विजयी स भवेद् वशी ॥९४॥
अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः।
शुद्धवेषधरो श्रीमान् निर्ग्रन्थः स गुणाग्रणी ॥९५॥

शंकाकारोंके प्रश्नोंका समाधान करनेवाले, वाद अर्थात् शास्त्रार्थ करनेवाले, स्याद्वादके रहस्यके जानकार, वचन बोलनेमें चतुर, शब्द ब्रह्मके सर्वज्ञ, सिद्धान्तशास्त्रके पारगामी, वृत्ति-प्रधान सूत्रोंके विद्वान्, शब्द और अर्थसे उनकी सिद्धि करनेवाले, अर्थमें माधुर्य लानेवाले, वक्तृत्वकला-विशारदोंके अग्रगामी, इत्यादि गुणोंके धारक उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। उपाध्याय होनेमें मुख्य कारण शास्त्रोंका अभ्यास है। जो गुरुजन स्वयं शास्त्रोंका अध्ययन करते

हैं, तथा जो शिष्योंको उनका अध्यापन कराते हैं, वे उपाध्याय कहलाते है। उपाध्यायमें पढ़ने-पढ़ानेके सिवाय शेष व्रतादिकोंकी पालनादि विधि मुनियोंके समान साधारण है। उपाध्याय परमेष्ठी धर्मका उपदेश कर सकते हैं, परन्तु आचार्यके समान धर्मका आदेश नहीं कर सकते। आचार्योका जो आश्रम, लिंग, संयम और तप बतलाया गया है, वही उपाध्यायोंका होता है। वे शुद्ध-बुद्धि उपाध्याय शुद्ध चारित्र और पंचाचारोंको भी आचरण करते है, परमागमोक्त मूलगुण और उत्तरगुणोंको भी चिरकाल तक आचरण करते है, वे वशी अर्थात् इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले जितेन्द्रिय परीषह और उपसर्गोंको भी विजय करते है। यहाँ पर बहुत विस्तार न कर संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि उपाध्याय परमेष्ठी निश्चयसे मुनिके समान ही अन्तरंग और बाह्यमें शुद्ध वीतराग वेषके धारक होते है तथा बुद्धिमान्, निष्परिग्रह और गुणोंमें सर्वश्रेष्ठ होते है ॥८९–९५॥

साधुपरमेष्ठीका स्वरूप

मार्गो मोक्षस्य चारित्रं तत्सद्भक्तिपुरःसरम् ।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥९६॥
नोच्याच्चायं यमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया ।
न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥९७॥
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम् ।
स्तिमितान्तर्बहिस्तुल्यो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥९८॥
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥९९॥

वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः ।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥१००॥
निर्ग्रन्थोऽन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंऽशुभिः ॥१०१॥
परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥१०२॥
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥१०३॥

मोक्षका मार्ग चारित्र है, उस चारित्रको जो सद्भक्ति-पूर्वक आत्म-सिद्धिके लिए साधन करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। इस प्रकार यह साधुसंज्ञा सार्थक है। ये साधुजन न तो किसीसे कुछ कहते ही हैं और न हस्त अंगुलि आदिसे किसी प्रकारका संकेत ही करते है; तथा मनसे भी किसी अन्य प्रकारके विकल्पका चितवन नहीं करते; किन्तु एकाग्रचित्त होकर केवल अपने शुद्धात्माका ध्यान करते हैं। जिनकी अन्तरंग और बाह्य प्रवृत्तियाँ बिलकुल शान्त हो चुकी हैं जो तरंग-रहित समुद्रके समान गम्भीर हैं वे साधु कहलाते हैं। वे न तो किसीको कुछ आदेश ही देते हैं और न उपदेश ही करते हैं। यहाँ तक कि स्वर्ग और मोक्षमार्गके विषयमें भी उपदेश और आदेश नहीं करते; फिर इनके विपक्षभूत सांसारिक विषयोंकी तो बात ही क्या है? वैराग्यकी परमकाष्ठाको प्राप्त वे मुनिजन महा-प्रभावशाली, दिशारूपी वस्त्रोंके धारण करनेवाले, यथाजात रूपके धारक, दयालु, निष्परिग्रह, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग मोह-ग्रन्थियोंके खोलनेवाले, संयमके धारक असंख्यात गुणित श्रेणीके क्रमसे कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले, तपरूपी किरणोंके द्वारा भास्वान्, परीषह और उपसर्गादिकोंसे अजय्य, महातपस्वी, कामदेवके जीतनेवाले, एषणा-

शुद्धिसे परमशुद्ध, चारित्रमें सदा तत्पर, प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण आदिमें सदा सावधान और साधुओंके सर्वगुणोंसे सम्पन्न साधु परमेष्ठी होते है। वे ही साधु परमेष्ठी मुमुक्षुजनोंके द्वारा आत्म-कल्याणके लिए नमस्कारके योग्य है। उक्त गुणोंसे रहित साधु संज्ञा-का धारक भी पुरुष विद्वानोंके नमस्कार योग्य नहीं है ॥९६–१०३॥

इन उपर्युक्त पाँचों परमेष्ठियोंमेंसे अर्हन्त तो जीवन्मुक्ति रूप तथा सिद्ध परम सिद्धि रूप मुक्तिपदमें अवस्थित होनेसे परमेष्ठी हैं ही। शेष तीनों वीतराग मार्ग पर आरूढ होनेसे परमेष्ठी कहलाते है। सम्यग्दृष्टि जीव भी राग-द्वेपको छोड़कर वीतरागतारूप परम शान्तिके प्राप्त करनेका अभिलाषी होता है, अतः इन पंच परमे-ष्ठियोंको अपना आदर्श मानता है और उनके गुणोंको प्राप्त करनेके लिए सदैव उनकी वन्दना-भक्ति करते हुए उनके नामका स्मरण किया करता है। यहाँ यह बात ज्ञातव्य है कि यद्यपि सर्व-कर्म-मल-कलङ्कसे रहित होनेके कारण सिद्धपरमेष्ठी महान् है, तथापि उन्हें पहले नमस्कार न करके अरहन्तपरमेष्ठीको जो प्रथम नमस्कार किया गया है, उसका कारण यह है कि एक तो हम अरहन्तके उपदेशसे ही सिद्धोंका महत्त्व जानते है और दूसरे उनके द्वारा ही हमें यह बोध प्राप्त हुआ है कि हम भी पुरुषार्थ कर उनके समान बन सकते हैं। अतएव आसन्न उपकारी होनेसे उपर्युक्त अनादि मूलमन्त्रमें अरहन्तोंको पहले नमस्कार किया गया है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवाः देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥१०४॥

गणधरादि देवोंने सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डालको भी भस्मसे प्रच्छन्न किन्तु अन्तरङ्गमें तेज-सम्पन्न अग्निके समान 'देव' अर्थात् श्रेष्ठ कहा है ॥१०४॥

भावार्थ—नीच कुलमें जन्मा हुआ चाण्डाल भी यदि सम्यग्दर्शनसे युक्त है, तो श्रेष्ठ है—अतः पूज्य है। किन्तु उच्च कुलमें जन्म लेकर भी जो मिथ्यात्व-युक्त हैं, वे श्रेष्ठ और आदरणीय नहीं हैं।

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥१०५॥

ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनकी प्रधानरूपसे उपासना की जाती है क्योंकि जिनदेवने उस सम्यग्दर्शनको मोक्षमार्गके विषयमें 'कर्णधार' अर्थात् पतवार या खेवटिया कहा है ॥१०५॥

सम्यग्दर्शन धर्मरूप वृक्षका बीज है

विद्यावृत्तस्य सम्भूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥१०६॥

सम्यक्त्वके अभावमें ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल-प्राप्ति नहीं हो सकती है जैसे कि बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति आदि असम्भव है ॥१०६॥

मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥१०७॥

मोह-रहित सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्ग पर स्थित है किन्तु

मोहवान् मुनि मोक्षमार्ग पर स्थित नहीं है क्योंकि मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ माना गया है ॥१०७॥

सम्यक्त्वके समान कोई श्रेयस्कर नहीं

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥१०८॥

त्रिकालमें और त्रिलोकमें सम्यग्दर्शनके समान प्राणियोंका कोई श्रेयस्कर मित्र नहीं है और मिथ्यादर्शनके समान कोई अश्रेयस्कर शत्रु नहीं है ॥१०८॥

सम्यग्दृष्टि नीच योनिमें जन्म नहीं लेते

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥१०९॥

जो जीव व्रत आदिकसे रहित होकर भी सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं वे मरकर नारकी या तिर्यच नहीं होते, नपुंसक और स्त्रियोंमें पैदा नहीं होते। मनुष्योंमें जन्म लेने पर नीच कुलमें जन्म नहीं लेते, विकृतांग और अल्पायु नहीं होते। तथा दरिद्रताको भी प्राप्त नहीं होते है ॥१०९॥

सम्यग्दृष्टि मनुष्य मानव-तिलक होते हैं

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
महाकुला महार्थाः मानवतिलका भवन्ति दर्शनशरणाः ॥११०॥

सम्यग्दृष्टि जीव यदि मनुष्योंमें उत्पन्न हों, तो ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, ऋद्धि, विजय और वैभवसे सम्पन्न, महाकुलीन, महापुरुषार्थी, ऐसे मानव-तिलक अर्थात् श्रेष्ठ मनुष्य होते है ॥११०॥

सम्यग्दृष्टि स्वर्गीय दिव्य सुख भोगते हैं

अष्टगुणपुष्टितुष्टाः दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः ।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥१११॥

जिनेन्द्र-भक्त सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्गमें अणिमादि अष्टगुणोंकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट और प्रकृष्ट सौभाग्यसे युक्त होकर देव और अप्सराओंकी परिषद्‌में चिरकाल तक सांसारिक सुखोंका उपभोग करते है ॥१११॥

सम्यग्दृष्टि सम्राट्-पद प्राप्त करते हैं

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥११२॥

वहाँसे च्युत होकर वे ही सम्यग्दृष्टि जीव नवनिधि और चौदह रत्नोंके अधीश्वर बनकर एवं षट्खण्ड भूमिके स्वामी होकर अधीनस्थ राज-क्षत्रियोंकी मुकुट-मालाओंपर चरण-निक्षेप करते हुए सुदर्शनचक्र चलानेमें समर्थ होते हैं, अर्थात् चक्रवर्ती-सम्राट् बनते हैं ॥११२॥

सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर बनते हैं

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नुतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्थाः वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥११३॥

वे ही सम्यग्दृष्टि जीव पुनः अमर, असुर, नरपति और यमधरपति अर्थात् मुनियोंके स्वामी गणधरादिके द्वारा नमस्कृत होकर और त्रैलोक्यको अभय दान दे लोक-शरण्य बनकर धर्मचक्रके धारक तीर्थङ्कर होते हैं ॥११३॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही जीव तीर्थंकर पद पाता है।

अन्तमें सम्यग्दृष्टि शिव-पद प्राप्त करते हैं

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम् ।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥११४॥

इस प्रकार सांसारिक उत्तमोत्तम पदोंको और लोकोत्तर तीर्थकर पदको प्राप्त होकर सम्यग्दृष्टि जीव अन्तमें अजर, अमर, अक्षय, अव्याबाध, शोक, भय, और शंकासे अतीत, अनन्त-ज्ञान-सुखसे सम्पन्न निर्मल शिव पदको प्राप्त होते है ॥११४॥

उपसंहार

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥११५॥

जिनेन्द्र देवका भक्त भव्य सम्यग्दृष्टि जीव देवेन्द्रोंके समूहकी अपरिमित महामहिमाको, मुकुट-बद्ध राजाओंके मस्तकोंसे अर्चनीय चक्रवर्तीके चक्ररत्नको और सर्व लोकको अधरीकृत करनेवाले या अपना आराधक बनानेवाले धर्मेन्द्र चक्रको अर्थात् तीर्थङ्कर पदको पाकरके अन्तमें शिवपदको प्राप्त करता है ॥११५॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके रत्नत्रयरूप धर्मका मूल है। इसकी महिमा अनिवर्चनीय है। इसको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् जीव उत्तरोत्तर आत्म-विकास करता हुआ सभी सासारिक अभ्युदय-सुखोंको पाकर अन्तमें परम निःश्रेयसरूप मोक्ष-सुखको प्राप्त करता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

• तृतीय अध्याय : संक्षिप्त सार •

सर्वप्रथम धर्मके दूसरे भेद सम्यग्ज्ञानका और उसके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन पाँच भेदोंका स्वरूप बतला करके अन्तमें बतलाया गया है कि सम्यग्ज्ञान ही संसाररूपी मरुस्थलीमें दुःखरूपी अग्निसे संतप्त प्राणियोंको अमृतरूप जलसे तृप्त करनेवाला है। जबतक जीवके भीतर ज्ञानरूप सूर्यका उदय नहीं होता, तब तक ही समस्त जगत् अज्ञानरूप अन्धकारसे आच्छादित रहता है। किन्तु ज्ञानके प्रकट होते ही अज्ञानान्धकारका विनाश हो जाता है। सम्यग्ज्ञान ही इन्द्रियरूप चंचल मृगोंको बाँधनेके लिए दृढ़ पाशके समान है, चंचल और कुटिल चित्तरूपी सर्पको वशमें करनेके लिए गारुड मन्त्रके समान है, इसलिए सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। सम्यग्ज्ञानकी महिमा बतलाते हुए कहा गया है कि अज्ञानी जीव कोटि जन्म तप करके जितने कर्मोंका विनाश करता है, सम्यग्ज्ञानी जीव उससे भी असंख्यात गुणित कर्मोंका क्षय निमेष मात्रमें या आधे क्षणमें कर देता है। जिन लौकिक कार्योंको करते हुए अज्ञानी जीव कर्मोंका बन्ध करता है उन्हीं कार्योंको करते हुए सम्यग्ज्ञानी जीव कर्मोंकी निर्जरा (विनाश) करता है। अज्ञानी साधु चिरकाल तक तपस्या करते हुए भी अपनी आत्माको कर्मोंसे बाँधता है किन्तु ज्ञानी साधु बाहरी तपश्चरणादि नहीं करते हुए भी अपने आपको कर्म-बन्धनोंसे मुक्त करता रहता है। इसलिए मनुष्यको सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेका निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए।

तृतीय अध्याय

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप

त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः ।
यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥१॥

जिसमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके विषयभूत अनन्त गुण-पर्यायोंसे संयुक्त पदार्थ अतिशयताके साथ प्रतिभासित होते हैं, उसे ज्ञानी पुरुषोंने ज्ञान कहा है ॥१॥

ध्रौव्यादिकलितैर्भावैर्निर्भरं कलितं जगत् ।
चिन्तितं युगपद्यत्र तज्ज्ञानं योगि-लोचनम् ॥२॥

ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययसे संयुक्त पदार्थोंसे ठसाठस भरा हुआ यह जगत् जिस ज्ञानमें युगपत् प्रतिबिम्बित हो, वही सच्चा ज्ञान है, जो कि योगिजनोंके नेत्रके समान है ॥२॥

सम्यग्ज्ञानके भेद

मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम् ।
तदित्थं सान्वयैर्भेदैः पञ्चधेति प्रकल्पितम् ॥३॥

वह ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल, इन सान्वयी (सकारणक) भेदोंसे पाँच प्रकारका कल्पना किया गया है ॥३॥

भावार्थ—वास्तवमें ज्ञानसामान्य एक ही है, किन्तु कर्मके क्षय-क्षयोपशमादिके निमित्तसे उसके पाँच भेद हो जाते हैं। जो

ज्ञान स्पर्शन, रसना आदि पाँचों इन्द्रियोंसे तथा मनसे उत्पन्न होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थकी मनके द्वारा उत्तरोत्तर विशेषताओंके जाननेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं, समस्त शास्त्रज्ञान इसी श्रुतज्ञानके अन्तर्गत जानना चाहिए। देशान्तरित (दूरदेशवर्ती), कालान्तरित (भूत-भविष्यत्कालवर्ती) और सूक्ष्म पदार्थोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादासे जानने-वाले ज्ञानको अवधि ज्ञान कहते है। दूसरे व्यक्तिके द्वारा मनसे विचारी गई बातके जान लेनेको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंके हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जाननेको केवलज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञानका स्वरूप

अवग्रहादिभिर्भेदैर्बह्वाद्यन्तर्भवैः परैः।
षट्त्रिंशत्त्रिशतं प्राहुर्मतिज्ञानं प्रपञ्चतः ॥४॥

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तथा बहु, बहुविध आदि बारह भेदोंके विस्तारसे मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस ३३६ भेद कहे गये हैं ॥४॥

विशेषार्थ—इन्द्रियोंका पदार्थके साथ साक्षात्कार होने पर उसका जो ग्रहण होता है, उसे अवग्रह कहते हैं। जैसे किसीको दूरसे आता हुआ देखकर यह जानना कि मनुष्य आ रहा है। तदनन्तर यह मनुष्य दक्षिणी है कि उत्तरी है, इस प्रकारसे विशेष जाननेकी जो इच्छा होती है, उसे ईहा कहते हैं। तदनन्तर उसके आकार-प्रकार, बात-चीत आदिके द्वारा यह निश्चय करना कि यह उत्तरी ही है, इसे अवाय कहते हैं। तथा अवायसे निश्चय की गई बातके आगामी कालमें नहीं भूलनेको धारणा कहते हैं। ये चारों

प्रकारके ज्ञान स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते है। इस प्रकार चारों ज्ञानोंके २४ भेद हो जाते है। पुनः प्रत्येक प्रकारका ज्ञान बहु, बहुविध, अल्प, अल्पविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, निःसृत, अनिःसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुवरूप होता है। इस प्रकार उक्त चौबीसो प्रकारके ज्ञानके बहु-बहुविध आदि बारह प्रकारके पदार्थोंको जाननेसे २८८ भेद हो जाते है। ये सब भेद व्यक्त पदार्थके होते है। किन्तु जो पदार्थ व्यक्त नही होता, उसका ज्ञान केवल अवग्रहरूप ही होता है, ईहादिरूप नहीं। तथा वह अवग्रहरूप भी ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय और मनसे नहीं होता है, किन्तु शेष चार इन्द्रियोंसे होता है। ये चारों इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ अवग्रहज्ञान बहु-बहुविध आदि बारह प्रकारके पदार्थोंको जानता है अतएव बारहको चारसे गुणित करने पर ४८ भेद हो जाते है। इन्हें पहले बतलाये गये २८८ में जोड़ देने पर मति-ज्ञानके ३३६ भेद हो जाते है।

यहाँ इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि जिस जीवके चित्तकी विशुद्धि जितनी अधिक होगी, वह उतना ही स्पष्ट और अधिक काल तक स्थिर रहनेवाले ज्ञानका धारक होगा।

श्रुतज्ञानका स्वरूप

प्रसृतं बहुधाऽनेकैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः।
स्याच्छब्दलाञ्छितं तद्धि श्रुतज्ञानमनेकधा ॥५॥

आचारादि ग्यारह अंग, उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व और सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णक भेदोंकी अपेक्षा बहुत प्रकारसे विस्तृत 'स्यात्' शब्दसे चिह्नित श्रुतज्ञान अनेक प्रकारका है ॥५॥

विशेषार्थ—मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके विषयमें, या उसके सम्बन्धसे अन्य पदार्थके विषयमें जो विशेष चिन्तनात्मक ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। उसके मूलमें दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंग प्रविष्टके १२ भेद हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दशांग, अनुत्तरौपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादाग। इनमें दृष्टिवाद अंगके भी अनेक भेद-प्रभेद हैं। उनमें पूर्वगतके उत्पादपूर्व आदि १४ भेद होते हैं। श्रुतज्ञानके दूसरे भेद अंगबाह्यके भी १४ भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। इन सबके स्वरूपका विस्तार तत्त्वार्थ राजवार्तिकके प्रथम अध्याय और गो० जीवकाण्ड की ज्ञानमार्गणामें किया गया है. सो वहाँसे जानना चाहिए। ये सब द्रव्यश्रुतज्ञानके भेद हैं। भावश्रुतज्ञानके पर्याय, पर्यायसमास आदि २० भेद होते हैं, उन्हें भी गो० जीवकाण्डकी ज्ञानमार्गणासे ही जानना चाहिए। विषय विभागकी दृष्टिसे श्रुतज्ञानके चार भेद किये गये हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। पुण्य-पापका फल बतलानेवाले कथानक, चरित, पुराण आदिके वर्णन करनेवाले अनुयोगको प्रथमानुयोग कहते हैं। लोक-अलोकका विभाग, युगोंका परिवर्तन और चतुर्गतिरूप संसारका वर्णन करनेवाले अनुयोगको करणानुयोग कहते हैं। मुनि और श्रावकके आचार धर्मका वर्णन करनेवाले अनुयोगको चरणानुयोग

कहते हैं। जीव-अजीव आदि छह द्रव्योंके, सप्त तत्त्वोंके और बन्ध-मोक्षके वर्णन करनेवाले अनुयोगको द्रव्यानुयोग कहते है। आगम, स्मृति, पुराण, श्रुति, सूत्र, शास्त्र आदिके ज्ञानको श्रुत-ज्ञानके ही अन्तर्गत जानना चाहिए। जैन तत्त्वज्ञानका सर्वकथन नयवादके आश्रयसे किया गया है, इस दृष्टिसे उसे स्याद्वाद कहा जाता है। जो पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्यरूप है, वही पर्याय-दृष्टिसे अनित्यरूप है, इस आपेक्षिक कथनको ही स्याद्वाद कहते है। इसी का दूसरा नाम अनेकान्तवाद है।

अवधिज्ञानका स्वरूप

देवनारकयोर्ज्ञेयस्त्ववधिर्भवसम्भवः।
षड्विकल्पश्च शेषाणां क्षयोपशमलक्षणः ॥६॥

देव और नारकी जीवोंके तो अवधिज्ञान भवके निमित्तसे ही उत्पन्न होता है, उसे बाह्य अन्य कारणोकी अपेक्षा नहीं होती है। मनुष्य और तिर्यञ्चोंके जो अवधिज्ञान होता है वह क्षयोपशमके निमित्तसे होता है और उसके छह भेद होते है— १ अनुगामी, २ अननुगामी, ३ वर्धमान, ४ हीयमान, ५ अवस्थित और ६ अनवस्थित ॥६॥

विशेषार्थ—जिस ज्ञानके द्वारा भूत-भविष्यत् कालकी सीमित बातोंको तथा दूर-क्षेत्रकी परिमित वस्तुओंको जान सके, उसे अवधि-ज्ञान कहते है। वह अनुगामी आदिके भेदसे छह प्रकारका होता है। उनका स्वरूप इस प्रकार है—भवान्तरमें साथ जानेवाले अवधि-ज्ञानको अनुगामी कहते हैं। भवान्तरमें साथ नहीं जानेवाले

अवधिज्ञानको अननुगामी कहते हैं। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् उत्तरोत्तर बढ़ता जावे, उसे वर्धमान कहते हैं। जो उत्पन्न होनेके पश्चात् उत्तरोत्तर घटता जावे उसे हीयमान कहते हैं। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् न घटे और न बढ़े, किन्तु उस भवके अन्त तक ज्यों का त्यों बना रहे, उसे अवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं। कभी घटनेवाले और कभी बढ़नेवाले अवधिज्ञानको अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं। देव-नारकियोंके अवधिज्ञान यतः उस भवके निमित्तसे उत्पन्न होता है, अतः उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं और वह प्रत्येक देव और नारकीके नियमसे होता है, मनुष्य तिर्यञ्चोंके वह सर्वके नहीं होता, किन्तु जिसके अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होगा, उसीके होगा।

मनःपर्यय ज्ञानका स्वरूप

ऋजुर्विपुल इत्येवं स्यान्मनःपर्ययो द्विधा।
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषोऽवगम्यताम् ॥७॥

ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है। इन दोनोंमें विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा भेद जानना चाहिए। अर्थात् ऋजुमतिकी अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अधिक विशुद्धियुक्त है, ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान होकर छूट भी जाता है, किन्तु विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान अप्रतिपाती है, छूटता नहीं है, किन्तु उस जीवके उसी भवमें केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥७॥

विशेषार्थ—दूसरेके मनकी बातके जाननेवाले ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुल-

मति। जो दूसरेके मनमें स्थित सीधी-सादी सरल बातको जाने, उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। और जो दूसरेके मनकी कुटिलसे कुटिल बातको भी जान लेवे उसे विपुलमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह मनःपर्ययज्ञान महान् संयमके धारक साधुओंके ही होता है। उसमें भी विपुलमति मनःपर्ययज्ञान तो तद्भवमोक्षगामी जीवके ही होता है, इसीलिए उसे अप्रतिपाती कहते हैं।

केवलज्ञानका स्वरूप

अशेषद्रव्यपर्यायविषयं विश्वलोचनम्।
अनन्तमेकमत्यक्षं केवलं कीर्तितं बुधैः ॥८॥

जो समस्त द्रव्योंके अनन्त पर्यायोंको जाननेवाला है, सर्व विश्वके देखनेको नेत्र समान है, अनन्त है, एक है, अतीन्द्रिय है, उसे विद्वानोंने केवलज्ञान कहा है ॥८॥

कल्पनातीतमभ्रान्तं स्वपरार्थावभासकम्।
जगज्ज्योतिरसन्दिग्धमनन्तं सर्वदोदितम् ॥९॥

वह केवलज्ञान कल्पनातीत है, भ्रान्ति-रहित है, स्व और पर पदार्थोंका निश्चय करानेवाला है, जगत्प्रकाशक है, सन्देह-रहित है, अनन्त है और सदा काल उदयरूप है, अर्थात् इसका किसी समयमें किसी प्रकारसे भी अभाव नहीं होता है ॥९॥

अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकश्चराचरः।
अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम् ॥१०॥

जिस केवलज्ञानके अनन्तानन्त भाग करने पर भी यह चराचर लोकाकाश और अलोकाकाश बहुत अच्छी तरह प्रतिभासित होता

है, ऐसा यह केवलज्ञान योगीश्वरोंकी ज्योतिरूप कहा गया है ॥१०॥

भावार्थ—केवलज्ञानमें समस्त लोक-अलोक प्रतिबिम्बित होते हैं और यह महायोगियोंके ही होता है।

अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्रवेरपि ।
तद्दुर्बोधोद्धतं ध्वान्तं ज्ञानभेद्यं प्रकीर्त्तितम् ॥११॥

जो मिथ्याज्ञानरूप उत्कट अन्धकार चन्द्रके अगम्य है और सूर्यसे भी दुर्भेद्य है, वह सम्यग्ज्ञानसे ही नष्ट किया जाता है ॥११॥

प्रमाण और नयका स्वरूप

वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणव्यञ्जितात्मनः ।
एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा मतः ॥१२॥

अनन्त धर्मात्मक वस्तुका पूर्णस्वरूप प्रमाणसे अर्थात् सम्यग्ज्ञानसे जाना जाता है और उसके एक एक धर्मका ज्ञान करानेवाले ज्ञानांशको नय कहते हैं। वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे अनेक प्रकारका है ॥१२॥

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म होते हैं, उन सर्व धर्मों से संयुक्त अखण्ड, वस्तुके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। और उस वस्तुके एक धर्मके जाननेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। उस नयके मूलमें दो भेद हैं—द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नय। जो वस्तुके वस्तुत्व या अन्वयरूप द्रव्यको विषय करे, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और वस्तुकी पर्याय अर्थात् बदलनेवाली अवस्थाओंको विषय करे, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

इन दोनों नयोंके भी उत्तरभेद अनेक होते है, उन्हें नयचक्र या आलापपद्धतिसे जानना चाहिए।

दुःखज्वलनतप्तानां संसारोग्रमरुस्थले।
विज्ञानमेव जन्तूनां सुधाम्बुप्रीणनक्षमः ॥१३॥

इस संसाररूपी उग्र मरुस्थलमें दुःखरूपी अग्निसे संतप्त जीवों को यह सत्यार्थ ज्ञान ही अमृतरूपी जलसे तृप्त करनेके लिए समर्थ है, अर्थात् संसारके दुःख मिटानेवाला सम्यग्ज्ञान ही है ॥१३॥

निरालोकं जगत्सर्वमज्ञानतिमिराहतम्।
तावदास्ते उदेत्युच्चैर्न यावज्ज्ञानभास्करः ॥१४॥

जबतक ज्ञानरूपी सूर्यका सातिशय उदय नहीं होता है, तभी तक यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छादित रहता है, किन्तु ज्ञानके प्रकट होते ही अज्ञानका विनाश हो जाता है॥ १४॥

बोध एव दृढः पाशो हृषीकमृगबन्धने।
गारुडश्च महामन्त्रश्चित्तभोगिविनिग्रहे ॥१५॥

इन्द्रियरूप मृगोंको बाँधनेके लिए ज्ञान ही एक दृढ़ पाश है, क्योंकि ज्ञानके विना इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं। तथा चित्तरूपी सर्पका निग्रह करनेके लिए ज्ञान ही एकमात्र गारुडमहामन्त्र है क्योंकि ज्ञानसे ही मन वशीभूत होता है ॥१५॥

निशातं विद्धि निस्त्रिंशं भवारातिनिपातने।
तृतीयमथवा नेत्रं विश्वतत्त्वप्रकाशने ॥१६॥

ज्ञान ही तो संसाररूपी शत्रुके नष्ट करनेके लिए तीक्ष्ण खड्ग है और ज्ञान ही समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेके लिए तीसरा नेत्र है ॥१६॥

क्षीणतन्द्रा जितक्लेशा: वीतसङ्गाः स्थिराशयाः ।
तस्यार्थेऽमी तपस्यन्ति योगिनः कृतनिश्चयाः ॥१७॥

प्रमादको क्षीण करनेवाले, क्लेशोंको जीतनेवाले, परिग्रहसे रहित और स्थित चित्तवाले ये योगिजन उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए ही दृढ निश्चय होकर तपस्या करते हैं ॥१७॥

वेष्टयत्याऽऽत्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥१८॥

अज्ञानी पुरुष अपने आप ही अपनी आत्माको कर्मरूपी बन्धनोंसे वेष्टित कर लेता है और जो विशिष्ट ज्ञानी जीव है, वह समय पाकर प्रबुद्ध हो अपनेको कर्म-बन्धनोंसे छुड़ा लेता है ॥१८॥

यज्जन्मकोटिभिः पापं जयत्यज्ञस्तपोबलात् ।
तद्विज्ञानी क्षणार्द्धेन दहत्यतुलविक्रमः ॥१९॥

अज्ञानी जीव जितने पापको करोड़ों जन्मोंमें तप करके उसके बलसे नष्ट करता है, सम्यग्ज्ञानी पुरुष उसी पापको अपने अतुल पराक्रमसे आधे क्षणमें ही भस्म कर देता है ॥१९॥

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।
स बध्नात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपि तपश्चिरम् ॥२०॥

इस संसारमें जिस साधुकी क्रियाएँ अज्ञानपूर्वक होती हैं, वह चिरकाल तक तपस्या करता हुआ अपनी आत्माको अपने ही कृत्योंसे बाँध लेता है ॥२०॥

भावार्थ—अज्ञानपूर्वक तप संसार-बन्धनका ही कारण है ।

ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं यस्य योगिनः ।
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥२१॥

जिस योगीका समस्त आचरण ज्ञानपूर्वक होता है, उसके किसी भी कालमें कर्म-बंध नहीं होता है ॥२१॥

यत्र बालश्चरत्यस्मिन् पथि तत्रैव पण्डितः ।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवम् ॥२२॥

जिस मार्ग पर अज्ञानी पुरुष चलता है, उसी मार्ग पर ज्ञानी पुरुष भी चलता है । परन्तु अज्ञानी तो अपने आपको बाँधता है और तत्त्वज्ञानी निश्चयसे बन्ध-रहित हो जाता है, यह सब ज्ञानका ही माहात्म्य है ॥२२॥

इस प्रकार सम्यग्ज्ञानका वर्णन करनेवाला तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

• चतुर्थ अध्याय : संक्षिप्त सार •

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् सम्यक्चारित्रको धारण करनेकी आवश्यकता बतलाई गई है, क्योंकि जब तक सदाचारका पालन नहीं किया जायगा, तब तक कोरा ज्ञान निरर्थक रहेगा। चारित्र-पालन करनेके लिए आवश्यक है कि मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापोंका यावज्जीवनके लिए सर्वथा त्याग करे। यदि वह किन ही कारणोंसे पाँचों पापोंके सर्वथा त्याग करनेके लिए अपनेको असमर्थ पावे, तो कमसे कम स्थूल हिंसा का त्याग तो अवश्य करे, अर्थात् संकल्पपूर्वक किसी भी त्रस प्राणी को न मारे। क्योंकि मनुष्यके हृदयमें जब दूसरेको मारनेका क्रूर भाव उत्पन्न होता है, उसी समय उसकी स्वाभाविक शान्तिका विनाश एवं आत्माका हनन होता है, फिर पीछे चाहे अन्य प्राणी की हिंसा हो, या न हो। हिंसा क्या वस्तु है, कौन सी हिंसा महान् दुष्फल देती है और कौन सी अल्पफल देती है इत्यादि बातोंका बहुत सुन्दर विवेचन इस अध्यायमें किया गया है और अन्तमें बतलाया गया है कि अहिंसाकी रक्षाके लिए न मनुष्यको झूठ बोलना चाहिए, न चोरी करना चाहिए, न व्यभिचार करना चाहिए और न परिग्रहका संचय ही करना चाहिए। तथा हिंसाके पापसे बचनेके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह मांस न खाये, मद्य न पीवे और हिंसाजन्य पदार्थोंका सेवन न करे, न उन फलोंको ही खाये, जिनके भीतर त्रस जीव स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

अहिंसाकी रक्षाके लिए रात्रि-भोजनका त्याग भी आवश्यक है। रात्रि भोजन करनेमें किस प्रकार द्रव्य हिंसा और भाव हिंसाकी प्रचुरता है, इसका बहुत सुन्दर एवं सयुक्तिक विवेचन किया गया है और साथ ही रात्रि-भोजन करनेसे कैसे-कैसे शारीरिक रोग आदि होते हैं यह भी बतलाया गया है। इस प्रकार अहिंसा व्रतका विस्तारके साथ वर्णन करनेके अनन्तर सत्य, अचौर्य, ब्रह्म-चर्य और अपरिग्रह व्रतका वर्णन किया गया है। तदनन्तर तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतका स्वरूप निरूपण करके श्रावकको उक्त-व्रतोंके धारण करनेका उपदेश दिया गया है।

अन्तमें श्रावकके लिए अत्यन्त आवश्यक संन्यास धर्मका उपदेश देते हुए कहा गया है कि समाधिमरण ही जीवन भरकी तपस्याका फल है, इसके द्वारा ही जीव संसार-समुद्रसे पार होता है, इसलिए जब वह देखे कि मेरा शरीर जीर्ण हो गया है, इन्द्रियाँ बराबर अपना काम नहीं करती है और धर्म-पालन करना असम्भव हो रहा है, तब वह शरीरसे ममत्व छोड़ कर वीरतापूर्वक उसके परित्यागके लिए तैयार हो। पश्चात् समाधिमरणकी विधि बतला कर कहा गया है कि इसके द्वारा ही जीव परम निर्वाणको प्राप्त होता है।

श्रावक घरमें रहते हुए किस प्रकार अपने आत्मिक गुणोंका विकास करता है, यह बतलाते हुए उसके ११ पदोंका भी स्वरूप इस अध्यायके अन्तमें दिया गया है। इस प्रकार चारित्रके दो भेदोंसे देशचारित्रका वर्णन इस अध्यायमें किया गया है।

चतुर्थ अध्याय

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः ।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥१॥

जिन्होंने दर्शनमोहनीय कर्म नष्ट कर दिया है, और सम्यग्ज्ञानसे जीवादि तत्त्वके अर्थको जान लिया है ऐसे दृढ़चित्त पुरुषोंके द्वारा सम्यक् चारित्र अवलम्बन करनेके योग्य है ॥१॥

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥२॥

अज्ञानपूर्वक जो चारित्र होता है, वह सम्यक् नामको नहीं पाता है, अर्थात् सम्यक्चारित्र नहीं कहला सकता। इसलिए सम्यग्ज्ञानके पश्चात् चारित्रका आराधन आवश्यक माना गया है ॥२॥

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३॥

यतः समस्त पाप-योगके परिहारसे सकल कषाय-रहित, निर्मल और पर-पदार्थोंमें उपेक्षारूप चारित्र होता है, अतः वह आत्माका स्वरूप है ॥३॥

भावार्थ—समस्त पाप क्रियाओंको छोड़कर और पर पदार्थोंमें राग-द्वेष न करके उदासीन या माध्यस्थ्यभावके अंगीकार करनेको चारित्र कहते हैं।

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४॥

हिंसासे, असत्यवचनसे, चोरीसे, कुशीलसे और परिग्रहसे सर्वदेश विरति और एकदेश विरतिरूप दो प्रकारका चारित्र होता है ॥४॥

भावार्थ—पाँचों पापोंके यावज्जीवन सर्वथा त्यागको सकल-चारित्र कहते है और एक देशत्याग करनेको देशचारित्र कहते हैं।

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥५॥

सर्वदेशविरतिमें निरत यति होता है, यह साधु समयसार-स्वरूप है, अर्थात् सच्चा साधु-जीवन ही जैनधर्मका परम आदर्श है, और जो एकदेशविरतिमें निरत है, वह श्रावक कहलाता है॥५॥

भावार्थ—पाँचों पापोका सम्पूर्णरूपसे त्यागकर सकलचारित्र-का धारण करनेवाला मुनि कहलाता है और उनका एक देश या स्थूल रूपसे त्यागकर देश-चारित्रका धारक श्रावक कहलाता है। श्रावकोंके व्रत बारह होते है—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत। आगे उनका क्रमशः वर्णन किया गया है।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वहिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥६॥

आत्माके शुद्धोपयोग रूप परिणामोंके घात करनेके कारण असत्य वचनादि सर्व पाप हिंसारूप ही है। असत्य वचनादि पापोंका भेद-कथन तो केवल शिष्योंको समझानेके लिए ही किया गया है ॥६॥

भावार्थ—यदि वास्तवमें देखा जाय, तो झूठ, चोरी आदि सभी पाप हिंसाके ही अन्तर्गत है। उनका पापरूपसे पृथक् उपदेश तो मन्दबुद्धि लोगोंको समझानेके लिए ही दिया गया है।

यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्य-भावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥७॥

कषायरूप परिणत हुए मन-वचन-कायके योगसे जो द्रव्य और भावरूप दो प्रकारके प्राणोंका घात किया जाता है, वह निश्चयतः हिंसा है ॥७॥

भावार्थ—जिस पुरुषके मन, वचन और कायमें क्रोधादि कषाय प्रकट होते हैं, उसके शुद्धोपयोगरूप भावप्राणोंका घात पहले होता है, क्योंकि कषायोंके प्रादुर्भावसे भावप्राणका हनन होता है, यह प्रथम हिंसा है। पश्चात् यदि कषायोंकी तीव्रतासे, दीर्घ श्वासोच्छ्वाससे अथवा हस्त-पादादिकसे वह अपने अंगको कष्ट पहुँचाता है या आत्मघात कर लेता है, तो उसके द्रव्य प्राणों का घात होता है, यह दूसरी हिंसा है। पुनः उसके कहे हुए मर्म-भेदी कुवचनादिसे या हास्यादिसे किसी पुरुषके अन्तरंगमें पीड़ा होती है और उसके भावप्राणोंका घात होता है तो यह तीसरी हिंसा है। और अन्तमें उसकी तीव्र कषायसे विवक्षित पुरुषको जो शारीरिक पीड़ा पहुँचाई जाती है, उसे परद्रव्य-प्राण-व्यपरोपण कहते हैं, यह चौथी हिंसा है। कहनेका सार यह है कि कषायके वश होकर अपने और परके भावप्राण एवं द्रव्य-प्राण का घात करना हिंसा है और उस हिंसाके चार भेद होते हैं—स्व-भावहिंसा, स्व-द्रव्यहिंसा, पर-भावहिंसा और पर-द्रव्यहिंसा।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥८॥

आत्मामें रागादि भावोंका प्रकट नहीं होना ही अहिंसा है और

उन रागादिभावोंकी उत्पत्ति होना ही हिंसा है बस इतना मात्र ही जैन सिद्धान्तका संक्षिप्त सार या रहस्य है ॥८॥

युक्ताचरणस्य सतो, रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा, प्राणव्यपरोपणादेव ॥९॥

योग्य आचरण करनेवाले सन्त पुरुषोंके रागादि आवेशके विना केवल प्राणोंके घातसे हिंसा कदाचित् भी नहीं होती है ॥९॥

भावार्थ—यदि किसी अन्य पुरुषके सावधान होकर गमनादि करनेमें उसके शरीर-सम्बन्धसे कोई जीव पीड़ित हो जाय, या मर जाय, तो उसे हिंसाका दोष कदापि नहीं लगता। क्योंकि उसके परिणाम राग-द्वेष आदि कषाय रूप नहीं हैं।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥१०॥

रागादि भावोंके वशमें प्रवृत्त होनेपर अयत्नाचाररूप प्रमाद-अवस्थामें जीव मरे, अथवा नहीं मरे, किन्तु हिंसा तो निश्चयतः आगे ही दौड़ती है ॥१०॥

भावार्थ—जो प्रमादी जीव कषायोंके वश होकर असावधानी पूर्वक गमनादि क्रिया करता है उस समय चाहे जीव मरे अथवा न मरे, परन्तु वह हिंसाके दोषका भागी तो अवश्य ही होता है क्योंकि हिंसा कषायरूप भावोंसे उत्पन्न होती है।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणान्तु ॥११॥

उक्त कथनका कारण यह है कि आत्मा कषाय भावोंसे युक्त होकर पहले अपने आपके द्वारा अपना ही घात करता है,

फिर भले ही पीछे अन्य जीवोंकी हिंसा होवे, अथवा नहीं होवे ॥११॥

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥१२॥

हिंसासे विरक्ति न होना और हिंसा रूप परिणमन होना हिंसा ही है इसलिए प्रमत्तयोगके होने पर निरन्तर प्राण-घातका सद्भाव है ही ॥१२॥

भावार्थ—जो हिंसाके त्यागी नहीं हैं, वे भले ही हिंसा न करें, किन्तु वे हिंसाके भागी होते ही हैं, क्योंकि उनके प्रमत्तयोग पाया जाता है ।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥१३॥

यद्यपि मनुष्यके सूक्ष्म भी हिंसा पर-वस्तुके निमित्तसे नहीं होती है, तो भी परिणामोंकी विशुद्धिके लिए हिंसाके आयतन आदिका त्याग करना चाहिए ॥१३॥

भावार्थ—यद्यपि रागादि कषाय भावोंका होना ही हिंसा है, पर-वस्तुका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि रागादिके परिणाम परिग्रहादिके निमित्तसे ही होते है, अतएव परिणामोंकी विशुद्धिके लिए परिग्रहादिका परित्याग करना ही चाहिए ।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥१४॥

जो जीव निश्चय नयके स्वरूपको नहीं जानकर नियमसे उसे ही अंगीकार करता है, वह जीव बाह्य क्रियामें आलसी है और अपने चारित्रका नाश करता है ॥१४॥

भावार्थ—जो कोई पुरुष यह कहता है कि मेरे अन्तरङ्ग परिणाम स्वच्छ होना चाहिए, फिर बाह्य परिग्रहादि रखने या बुरा आचरण करनेसे मुझमें कोई दोष नहीं आ सकता, वह अहिंसा के आचरणको नष्ट करता है। क्योंकि बाह्य निमित्तसे अंतरङ्ग परिणाम अशुद्ध होते ही हैं, अतएव एक ही पक्षको ग्रहण न करके निश्चय और व्यवहार दोनों ही अङ्गीकार करना चाहिए।

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥१५॥

कोई जीव हिंसाको नहीं करके भी हिंसाके फलका भागी होता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसाके फलका भागी नहीं होता ॥१५॥

भावार्थ—जिसके परिणाम हिंसारूप हुए है चाहे वह हिंसाका कोई कार्य कर न सके, तो भी वह हिंसाके फलको भोगेगा और जिस जीवके शरीरसे किसी कारण हिंसा हो गई परन्तु परिणामोंमें हिंसक भाव नहीं आया तो वह हिंसाके फलका भागी कदापि नहीं होगा।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥१६॥

किसी जीवके तो की गई थोडी सी भी हिंसा उदय कालमें बहुत फलको देती है और किसी जीवके बड़ी भारी भी हिंसा उदय कालमें अल्प फलको देनेवाली होती है ॥१६॥

भावार्थ—जो पुरुष किसी कारणवश बाह्य हिंसा तो थोड़ी कर सका हो परन्तु अपने परिणामोंको हिंसा भावसे अधिक संक्लिष्ट रखनेके कारण ही तीव्र बन्ध कर चुका हो, ऐसे पुरुषके उसकी

अल्प भी हिंसा फल-कालमें अधिक ही फल देगी। किन्तु जो पुरुष परिणामोंमें हिंसाके अधिक भाव न रखकर अचानक द्रव्य हिंसा कर गया है वह फल-कालमें अल्प फलका ही भागी होगा।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥१७॥

एक साथ दो व्यक्तियोंके द्वरा मिलकर की गई भी हिंसा उदयकालमें विचित्रताको प्राप्त होती है। अर्थात् वही हिंसा एक को तीव्र फल देती है और दूसरेको मन्द फल देती है ॥१७॥

भावार्थ—यदि दो पुरुष मिलकर कोई हिंसा करें तो उनमेंसे जिसके परिणाम तीव्र कषाय रूप हुए हैं उसे हिंसाका फल अधिक भोगना पड़ेगा और जिसके मन्द कषाय रूप परिणाम रहे हैं उसे अल्प फल भोगना पड़ेगा।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि ।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥१८॥

कोई हिंसा करनेके पहले ही फल देती है और कोई हिंसा करते हुए ही फल देती है, कोई हिंसा कर चुकने पर फल देती है और कोई हिंसा करनेका आरम्भ करके न करने पर भी फल देती है, इस प्रकार हिंसा कषायभावोंके अनुसार फल देती है ॥१८॥

भावार्थ—किसी जीवने हिंसा करनेका विचार किया, परन्तु अवसर न मिलनेके कारण वह हिंसा न कर सका, किन्तु उन कषाय-परिणामोंके द्वारा बँधे हुए कर्मोंका फल उदयमें आ गया, पश्चात् इच्छित हिंसा करनेको समर्थ हुआ तो ऐसी अवस्थामें

हिंसा करनेसे पहले ही उस हिंसाका फल भोग लिया जाता है। इसी प्रकार किसीने हिंसा करनेका विचार किया और इस विचार द्वारा बाँधे हुए कर्मोंके फलको उदयमें आनेकी अवधि तक वह उक्त हिंसा करनेको समर्थ हो सका, तो ऐसी दशामें हिंसा करते समय ही उसका फल भोगना सिद्ध होता है। किसीने सामान्यतः हिंसा करके पश्चात् उसका उदयकालमें फल पाया, अर्थात् हिंसा कर चुकने पर फल पाया। किसीने हिंसा करनेका आरंभ किया था, परन्तु किसी कारण हिंसा न कर सका, तथापि आरम्भजनित बन्धका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा, अर्थात् हिंसा न करने पर भी हिंसाका फल भोगा जाता है। कहनेका सारांश यह है कि कषाय रूप भावोंके अनुसार ही हिंसाका फल मिलता है।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥१९॥

एक पुरुष हिंसाको करता है, परन्तु फल भोगनेके भागी बहुत होते हैं। इसी प्रकार किसी हिंसाको अनेक जन करते हैं, परन्तु हिंसाके फलका भोक्ता एक ही पुरुष होता है ॥१९॥

भावार्थ—किसी जीवको मारते हुए देखकर जो दर्शक लोग प्रसन्नताका अनुभव करते हैं, वे सभी उस हिंसाके फलके भागी होते हैं। इसी प्रकार संग्राम आदिमें हिंसा करनेवाले तो अनेक होते हैं, किन्तु उनको आदेश देनेवाला अकेला राजा ही उस हिंसाके फलका भागी होता है।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥२०॥

किसी पुरुषको तो हिंसा उदयकालमें एक ही हिंसाके फलको देती है, और किसी पुरुषको वही हिंसा अहिंसाके विपुल फलको देती है ॥२०॥

भावार्थ—हिंसा अहिंसाके विशाल फलको कैसे देती है, इसका समाधान यह है कि जब कोई आततायी या हिंसक पशु नगरमें घुसकर अनेकों व्यक्तियोंकी हिंसा करता है, उस समय लोगोंकी रक्षाके भावसे कोई व्यक्ति उसका सामना करता है और इस पर-रक्षाके समय उसके द्वारा यदि आक्रमण करनेवाला मारा जाता है, तो यद्यपि वहाँ एक आततायीकी हिंसा हुई है, तथापि सैकड़ों निरपराध व्यक्तियोंके प्राणोंकी भी रक्षा उसके मारे जानेसे ही हुई है और इस प्रकार एकके मारनेकी अपेक्षा अनेकोंकी रक्षाका पुण्य विशाल है इसीलिए कहा गया है कि कहीं पर की गई हिंसा अहिंसाके विपुल फलको देती है।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥२१॥

किसी पुरुषकी अहिंसा उदयकालमें हिंसाके फलको देती है, तथा अन्य पुरुषकी हिंसा फलकालमें अहिंसाके फलको देती है, अन्य फलको नहीं ॥२१॥

भावार्थ—कोई जीव किसी जीवकी बुराई करनेका यत्न कर रहा हो, परन्तु उस जीवके पुण्यसे कदाचित् बुराईके स्थान पर भलाई हो जावे, तो भी बुराईका यत्न करनेवाला उसके फलका भागी होवेगा। इसी प्रकार कोई डॉक्टर नीरोग करनेके लिए

किसीका आपरेशन कर रहा हो, और कदाचित् वह रोगी मर जाय, तो डॉक्टर अहिंसाके ही फलको भोगेगा।

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥२२॥

इस प्रकार अत्यन्त कठिन और विविध भंगोसे गहन वनमें मार्ग-मूढ दृष्टिवाले जनोंको अनेक प्रकारके नयचक्रके संचारके जानकार गुरुजन ही शरण होते हैं ॥२२॥

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥२३॥

जिनेन्द्र भगवान्का अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला दुःसाध्य नय-चक्र, धारण करनेवाले अज्ञानी पुरुषोंके मस्तकको शीघ्र ही खण्ड-खण्ड कर देता है ॥२३॥

भावार्थ—जैनदर्शनके नय-भेदको समझना वहुत कठिन है। जो पुरुष विना समझे नय-चक्रमें प्रवेश करते हैं, वे लाभके बदले हानि ही उठाते हैं।

अवबुध्य हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥२४॥

आत्म-संरक्षणमें सावधान पुरुषोंको तत्त्वतः हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाके फलको जानकर अपनी शक्तिके अनुसार हिंसाका अवश्य ही त्याग करना चाहिए ॥२४॥

विशेषार्थ—जिनकी हिंसा की जाती है, ऐसे द्रव्यप्राण-इन्द्रियादिक, भावप्राण—ज्ञान-दर्शनादिक और उनके धारक जीवोंको हिंस्य कहते है। हिंसा करनेवाले जीवको हिंसक कहते है।

प्राणियोंके प्राण-पीडनरूप क्रियाको हिंसा कहते हैं और हिंसा करनेसे प्राप्त होनेवाला नरक–पशु गति आदिके दुःखोंको हिंसाफल कहते हैं। प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह इन चारों बातोंका विचारकर हिंसासे बचे।

आत्मवत्सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥२५॥

अपने समान सर्व प्राणियोंके सुख-दुःख और इष्ट-अनिष्टका चिन्तवन करे और यतः हिंसा अपने लिए अनिष्ट और दुःखकारक है, अतः अन्यके लिए भी वह अनिष्ट और दुःखकारक समझकर परकी हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥२५॥

म्रियस्वेत्युच्यमानेऽपि देही भवति दुःखितः।
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः स कथं भवेत् ॥२६॥

किसी प्राणीसे 'मर जाओ' ऐसा कहने पर ही वह भारी दुःखका अनुभव करता है, तो जो दारुण अस्त्र-शस्त्रोंसे मारा जा रहा है, वह कैसा होगा? अर्थात् कितने महान् दुःखका अनुभव नहीं करता होगा? ॥२६॥

हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं हिंसैव दुरितार्णवः।
हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः ॥२७॥

हिंसा ही दुर्गतिका द्वार है, हिंसा ही पापका समुद्र है, हिंसा ही घोर रौरव नरक है और हिंसा ही गहन अन्धकार है ॥२७॥

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च।
अहिंसालक्षणो धर्मस्तद्विपक्षश्च पातकम् ॥२८॥

सर्व शास्त्रोंमें और सर्व मतोंमें यही सुना जाता है कि धर्मका लक्षण अहिंसा ही है और हिंसा करना ही पाप है ॥२८॥

मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी ।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः ॥२९॥

अहिंसा ही माताके समान सर्व प्राणियोंका हित करनेवाली है और अहिंसा ही संसाररूप मरुस्थलीमें अमृतको वहानेवाली नहर है।

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियम् ।
अहिंसैव हितं कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति ॥३०॥

यह अहिंसा ही शिवपदको देती है, यही स्वर्गकी लक्ष्मीको देती है और यही अहिंसा आत्माका हित करती है, तथा समस्त व्यसनों और कष्टोंको दूर करती है ॥३०॥

अहिंसा दुःखदावाग्निप्रावृषेण्यघनावली ।
भवभ्रमिरुगार्त्तानामहिंसा परमौषधिः ॥३१॥

अहिंसा ही दुःखरूप दावाग्निको शमन करनेके लिए वर्षा कालीन मेघावली है और अहिसा ही भव भ्रमणरूप रोगसे पीड़ित प्राणियोंके लिए परम ओषधि है ॥३१॥

अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम् ।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोके चराचरम् ॥३२॥

अतएव प्राणियोंकी हिंसाका त्याग कर उन्हें अभयदान दो, उनके साथ निर्दोष, निश्छल मित्रता करो और समस्त चर-अचर जीवलोकको अर्थात् त्रस और स्थावर प्राणियोंको अपने सदृश देखो ॥३२॥

अहिंसैकापि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपःश्रुतयमोत्करः ॥३३॥

यह अकेली भगवती अहिंसा प्राणियोंको जो सौख्य, कल्याण और मुक्ति प्रदान करती है, उसे तप, श्रुत और शील-संयमादिका

समुदाय भी नहीं दे सकता। क्योंकि तप, श्रुत, शील-संयमादि सभी धर्मके अंगोंका आधार एकमात्र अहिंसा ही है ॥३३॥

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥३४॥

हिंसाके परित्याग करनेके इच्छुक जनोंको प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग करना चाहिए।

मद्य-पानके दोष

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥३५॥

मदिरा-पान चित्तको मोहित करता है, और मोहित-चित्त पुरुष धर्मको भूल जाता है तथा धर्मको भूला हुआ जीव हिंसाका निःशंक होकर आचरण करता है ॥३५॥

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥३६॥

मदिरा, रसोत्पन्न अनेक जीवोंकी योनि कही जाती है, इसलिए मद्य-सेवन करनेवाले जीवोंके हिंसा अवश्य ही होती है ॥३६॥

भावार्थ—मदिरामें तद्रस-जातीय असख्य जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, और पीते समय उन सबकी मृत्यु हो जाती है, इसलिए मदिरा-पानमें हिंसा नियमसे होती ही है।

अभिमान-भय-जुगुप्सा-हास्यारति-शोक-काम-कोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च शरक-सन्निहिताः ॥३७॥

अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध-आदिक हिंसाके ही पर्यायवाची नाम हैं और वे सब ही, मदिरा-पानके निकटवर्ती हैं ॥३७॥

मांस-भक्षणके दोष

न विना प्राण-विघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥३८॥

यतः प्राणोंके घात किये बिना मासकी उत्पत्ति नहीं होती है, अतः मांस-भक्षी पुरुषके अनिवार्य हिंसा होती है ॥३८॥

भावार्थ—मांसका भक्षण करनेवाला पुरुष भले ही अपने हाथ से किसी जीवको न मारे, तथापि वह हिंसा पापका भागी होता ही है ।

यद्यपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिष-वृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रित-निगोत-निर्मथनात् ॥३९॥

स्वयमेव ही मरे हुए गाय-भैंस आदि पशुओंका जो मांस होता है उस मांसके भक्षणमें भी मांसाश्रित तज्जातीय निगोदिया जीवोंके निमर्थनसे हिंसा होती ही है ॥३९॥

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥४०॥

विना पकी, पकी हुई और पकती हुई भी मांसकी डलियोंमें उसी जातिके सम्मूर्च्छन जीवोंका निरन्तर ही उत्पाद होता रहता है ॥४०॥

भावार्थ—मांसमें सदा ही जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है ।

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशित-पेशीम् ।
स हिनस्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीव कोटीनाम् ॥४१॥

जो जीव कच्ची अथवा पकी हुई मांसकी डलीको खाता है, अथवा छूता है, वह पुरुष निरन्तर एकत्रित हुए अनेक जीव कोटियों के पिण्डको मारता है ॥४१॥

भावार्थ—मांसका खानेवाला तो पापका भागी है ही, किन्तु जो मांसको उठाता-रखता है या उसका स्पर्श भी करता है, वह भी जीवहिंसाके पापका भागी होता है, इसका कारण यह है कि मांस में जो तज्जातीय सूक्ष्म जीव होते हैं, वे इतने कोमल होते हैं कि मनुष्यके स्पर्श करने मात्रसे उनका मरण हो जाता है।

मधु-सेवनके दोष

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मको भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥४२॥

इस लोकमें मधुका कण भी प्रायः मधु-मक्खियोंकी हिंसा रूप होता है अतएव जो मूढबुद्धि पुरुष मधुका सेवन करता है वह अत्यन्त हिंसक है ॥४२॥

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥४३॥

जो मधुके छत्तेसे छल-द्वारा अथवा स्वयमेव ही गिरे हुए मधुको ग्रहण करता है उसमें भी तदाश्रित प्राणियोंके घातसे हिंसा होती है ॥४३॥

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥४४॥

मधु, मद्य, मक्खन और मांस, ये चार महाविकृतियाँ कहलाती हैं, इनका भक्षण व्रती पुरुषको नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन चारों ही पदार्थोंमें उसी वर्णवाले सूक्ष्म जन्तु उत्पन्न होते रहते हैं ॥४४॥

भावार्थ—उक्त चारों पदार्थोंके सेवनसे काम, क्रोधादि महान् विकार उत्पन्न होते हैं, इसलिए इन्हें 'महाविकृति' कहते है।

उदुम्बर-फल-भक्षणके दोष

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥४५॥

ऊमर, कठूमर, पिलखन, बड़ और पीपलके फल त्रस जीवोंकी योनि हैं, इनके भीतर त्रस जीव उत्पन्न होते है इसलिए इन पाँचों उदुम्बर-फलोंके भक्षणमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है ॥४५॥

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि ।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥४६॥

और जो सूखे हुए उदुम्बर फल काल पाकर त्रस जीवोंसे रहित हो जाते है, तो उनको भी भक्षण करनेवालेके विशेष रागादि-रूप भावहिंसा होती है ॥४६॥

भावार्थ—प्रथम तो सूखे उदुम्बर फलोंके त्रस जीव भी उसके भीतर ही मर जाते है। इसलिए उनके मृतक शरीर उनके भीतर रहनेसे उन्हें खानेवालोंको मांस-भक्षणका दोष लगता है। दूसरे ऐसे हिंसामय एवं मृत प्राणि-प्रचुर फलोंका भक्षण रागभावकी तीव्रताके विना नहीं होता, इस कारण इनके भक्षणमें भावहिंसा भी है ही। अतः सूखे भी उदुम्बर फल नहीं खाना चाहिए।

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥४७॥

जो पुरुष अनिष्ट, दुस्तर और पापोंके स्थान भूत इन उपर्युक्त

आठ पदार्थोंको खानेका परित्याग करते हैं वे निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्मकी देशनाके पात्र होते हैं ॥४७॥

भावार्थ—मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके भक्षणका त्याग करने पर ही कोई पुरुष जैनधर्म धारण करनेके योग्य होता है, इसीलिए इनके त्यागको अष्टमूल गुण माना गया है।

धर्ममहिंसारूपं संश्रृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥४८॥

जो जीव अहिंसारूपी धर्मको श्रवण करके भी स्थावर जीवोंकी हिंसा छोड़नेमें असमर्थ हैं, वे भी त्रस जीवोंकी हिंसाका अवश्य त्याग करें ॥४८॥

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥४९॥

औत्सर्गिकी निवृत्ति तो कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, कायकी अपेक्षा नव प्रकारकी कही गई है किन्तु आपवादिकी निवृत्ति तो अनेक रूप होती है ॥४९॥

भावार्थ—क्रमबद्ध स्वाभाविक त्यागको औत्सर्गिकी निवृत्ति कहते हैं। यह नौ प्रकारकी होती है—किसीकी भी हिंसाको मनसे, वचनसे और कायसे न आप करे, न दूसरोंसे करावे और न करनेवालेकी अनुमोदना करे। इस नव कोटिसे जो त्याग किया जाता है, उसे उत्सर्ग-निवृत्ति कहते हैं। और इनमेंसे अनुमोदना-सम्बन्धी तीन भेदोंको छोड़कर शेष छह भेद-रूपसे अथवा कारित-सम्बन्धी तीन भेदोंको छोड़कर शेष तीन

भेदोंसे त्याग करनेको आपवादिकी निवृत्ति कहते हैं। इस प्रकार इसके अनेक भेद होते हैं। इसलिए प्रत्येक पुरुषको अपनी परिस्थिति और शक्तिके अनुसार हिंसाका यथासंभव त्याग करना ही चाहिए।

स्तोकेन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥५०॥

अल्प एकेन्द्रिय जीवोंके घातसे योग्य विषयोंको सम्पन्न करनेवाले गृहस्थोंको अप्रयोजनभूत शेष स्थावर जीवोंके घातका भी त्याग करना आवश्यक है। अर्थात् अनावश्यक पृथ्वी, जलादि एकेन्द्रिय-जीवोंकी भी हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥५०॥

पङ्गु-कुष्ठि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां सङ्कल्पतस्त्यजेत् ॥५१॥

हिंसा-जनित पापके बलसे ही लोग पंगु (लूले-लंगड़े), कोढी और विकलाग होते हैं। अतएव बुद्धिमानोंको चाहिए कि वे सङ्कल्पपूर्वक निरपराधी त्रसप्राणियोंकी तो हिंसाका परित्याग करें ॥५१॥

हिंसा-पाप ही समस्त दुःखोंका बीज है

यत्किञ्चित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासम्भवं ज्ञेयम् ॥५२॥

संसारमें प्राणियोंके जितने भी दुःख, शोक, भय और दुर्भाग्य आदि प्राप्त होते है, वे सब हिंसासे उत्पन्न हुए जानना चाहिए ॥५२॥

आयुष्मान् सुभगः श्रीमान् सुरूपः कीर्त्तिमान्नरः।
अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥५३॥

एक अहिंसाव्रतके माहात्म्यसे ही मनुष्य आयुष्मान्, सौभाग्य-वान्, श्रीमान्, सुरूपवान् और कीर्त्तिमान् होता है, ऐसा जानकर कमसे कम सांकल्पिक त्रसहिंसाका तो त्याग करना ही चाहिए॥५३॥

सत्याणुव्रतका स्वरूप

मन्मनत्वं काहलत्वं मूकत्वं मुखरोगिताम् ।
वीक्ष्यासत्यफलं स्थूलमसत्यं च त्रिधा त्यजेत् ॥५४॥

मिनमिनाना, काहलपना, मूकपना और मुखका रोगीपना आदि असत्य-भाषणके फलको देखकर मन, वचन-कायसे स्थूल असत्यको छोड़ना चाहिए ॥५४॥

असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद्वचनीयता ।
अधोगतिरसत्याच्च तदसत्यं परित्यजेत् ॥५५॥

असत्य-भाषणसे मनुष्यको लघुता प्राप्त होती है, असत्य-भाषणसे सर्वत्र अपमान होता है, असत्य-भाषणसे ही नरकगति प्राप्त होती है, इसलिए असत्य वचनके बोलनेका त्याग करना चाहिए ॥५५॥

असत्यवचनाद्वैरविषादाप्रत्ययादयः ।
प्रादुःषन्ति न के दोषाः कुपथ्याद् व्याधयो यथा ॥५६॥

असत्य वचन बोलनेसे वैर, विषाद, अविश्वास, आदि ऐसे कौनसे दोष हैं, जो उत्पन्न न होते हों। जिस प्रकार कि अपथ्य-सेवनसे नाना व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं ॥५६॥

निगोदेष्वथ तिर्यक्षु तथा नरकवासिषु ।
उत्पद्यन्ते मृषावादप्रसादेन शरीरिणः ॥५७॥

झूठ बोलनेके ही प्रसादसे प्राणी निगोदमें, तिर्यञ्चोंमें तथा

नरकावासोंमें उत्पन्न होता है इसलिए बुद्धिमान मनुष्योंको चाहिए कि वे झूठ बोलनेका परित्याग करें ॥५७॥

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥५८॥

जो स्थूल झूठ न तो स्वयं बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है, तथा भयंकर विपत्तिके समय सत्यको भी न बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है, उसे सन्त पुरुषोंने स्थूल मृषावादसे विरक्त होना अर्थात् सत्याणुव्रत कहा है ॥५८॥

भावार्थ—यतः गृहस्थ स्थूल सत्यव्रतका धारक होता है, अतः वह ऐसे सत्यको भी नहीं बोलता है, जिसके बोलनेसे किसी जीवका घात हो, धर्मका अपमान हो अथवा जाति या देशका विनाश सम्भव हो । हाँ यह अवश्य है कि वह धर्म-विरुद्ध, लोक विरुद्ध या न्याय विरुद्ध बात कभी नहीं कहेगा ।

अचौर्याणुव्रतका स्वरूप

दिवसे वा रजन्यां वा स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ।
सशल्य इव चौर्येण नैति स्वास्थ्यं नरः क्वचित् ॥५९॥

चोरी करनेके कारण मनुष्य दिनमें, रातमें, सोते समय और जागते समय शरीरमें चुभी शल्यके समान कहीं भी और कभी भी स्वस्थता या शान्तिको नहीं प्राप्त होता है ॥५९॥

परार्थग्रहणे येषां नियमः शुद्धचेतसाम् ।
अभ्यायान्ति श्रियस्तेषां स्वयमेव स्वयंवराः ॥६०॥

जिन शुद्ध हृदय वाले पुरुषोंके पराये धनके ग्रहण करनेका

नियम (त्याग) होता है उनके पास स्वयं वरण करनेवाली नाना प्रकारकी सम्पदाएँ स्वयं ही सम्मुख आती हैं ॥६०॥

अनर्थाः दूरतो यान्ति साधुवादः प्रवर्तते ।
स्वर्गसौख्यानि ढौकन्ते स्फुटमस्तेयचारिणाम् ॥६१॥

जो पुरुष निर्मल अचौर्यव्रतके धारक हैं, उनके पाससे अनर्थ दूर रहते हैं, संसारमें उनका साधुवाद फैलता है और स्वर्गोंके सुख उनको प्राप्त होते हैं ॥६१॥

दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमङ्गच्छेदं दरिद्रताम् ।
अदत्तात्तफलं ज्ञात्वा स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥६२॥

अभागीपना, दासपना, सेवकपना, अंगच्छेद और दरिद्रता ये सब चोरी करनेके फल हैं, ऐसा जानकर स्थूल चोरीका त्याग करना चाहिए ॥६२॥

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥६३॥

रखे हुए, गिरे हुए या भूले हुए पराये धनको बिना दिये जो न तो स्वयं लेता है और न उठाकर दूसरेको देता है, उसे स्थूल चोरीसे विरक्त होना अर्थात् अचौर्याणुव्रत कहते हैं ॥६३॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप

प्राणसन्देहजननं परमं वैरकारणम् ।
लोकद्वयविरुद्धं च परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥६४॥

प्राणोंकी स्थितिमें सन्देह उत्पन्न करनेवाला, परम वैरका कारण और दोनों लोकोंमें विरोधजनक ऐसे परस्त्री गमनको छोड़ देना चाहिए ॥६४॥

नपुंसकत्वं तिर्यक्त्वं दौर्भाग्यं च भवे भवे ।
भवेन्नराणां स्त्रीणां चान्यकान्तासक्तचेतसाम् ॥६५॥

अन्यकी कान्तामें आसक्त चित्त वाले मनुष्योंके और अन्य कान्त अर्थात् पुरुषमें आसक्त चित्त वाली स्त्रियोंके भव-भवमें नपुंसकपना, तिर्यञ्चपना और दुर्भाग्यपना प्राप्त होता है ॥६५॥

चिरायुषः सुसंस्थाना दृढसंहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥६६॥

ब्रह्मचर्यके धारण करनेसे मनुष्य दीर्घायुष, उत्तम संस्थानके धारक, दृढ़संहननवाले, तेजस्वी और महावीर्यशाली होते हैं ॥६६॥

✓ न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥६७॥

जो पुरुष पापके डरसे परायी स्त्रियोंके पास न तो स्वयं जाता है और न अन्य पुरुषोंको भेजता है, उसे परदारनिवृत्ति और स्वदार-सन्तोष नामक चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं ॥६७॥

ऐश्वर्यौदार्य-शौण्डीर्य-धैर्य-सौन्दर्य-वीर्यता ।
लभेताद्भुतसंचारांश्चतुर्थव्रतपूतधीः ॥६८॥

चौथे ब्रह्मचर्यव्रतसे पवित्र बुद्धिवाला मनुष्य ऐश्वर्य, औदार्य, शौण्डीर्य, धैर्य, सौन्दर्य एवं वीर्यको प्राप्त करता है, और अद्भुत संचारको—अर्थात् उत्तम गतियोंको प्राप्त करता है ॥६८॥

परिग्रहपरमाणुव्रतका स्वरूप

धन-धान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निस्पृहता ।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥६९॥

धन-धान्य आदि बाह्य दश प्रकारके परिग्रहका परिमाण करके

उससे अधिक वस्तुओंमें निस्पृहता रखना सो इच्छा परिमाण नाम का पाँचवाँ परिग्रहपरिमाणव्रत है ॥६९॥

सन्निधौ निधयस्तस्य कामगव्यनुगामिनी ।
अमराः किङ्करायन्ते सन्तोषो यस्य भूषणम् ॥७०॥

जिस पुरुषको सन्तोषरूपी आभूषण प्राप्त है, उसके समीपमें सदा निधियां विद्यमान रहती हैं, कामधेनु अनुगामिनी बन जाती है और अमर किंकर बन जाते हैं ॥७०॥

सेवातन्द्राः सुरेन्द्राद्याः क्रूरो मारश्च किङ्करः ।
यस्यामद्भुतमाहात्म्यसङ्गताऽसङ्गता ततः ॥७१॥

जिस पुरुषको अद्भुत माहात्म्यवाली असंगता—निष्परिग्रहता प्राप्त हो चुकी है, उसकी सुरेन्द्र आदि सेवा करते हैं और क्रूर कामदेव भी किंकर बन जाता है ॥७१॥

संसारमूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः ।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम् ॥७२॥

संसारके मूलकारण आरम्भ हैं, और उन आरम्भोंका कारण परिग्रह है, इसलिए श्रावकको चाहिए कि वह अपने परिग्रहको दिन-प्रतिदिन कम करता जावे ॥७२॥

अब रात्रि-भोजनके दोषोंका वर्णन करते हैं, क्योंकि रात्रि-भोजनका त्याग किये विना न पाँच अणुव्रतोंका धारण ही हो सकता है और न आठ मूलगुणोंका परिपालन ही । इसलिए आत्म-हितैषी पुरुषका कर्तव्य है कि महान् अनर्थोंका कारण रात्रि-भोजन अवश्य ही त्याग करे ।

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥७३॥

रात्रिमें भोजन करनेवालोंके हिंसा अनिवार्य होती है, इसलिए हिंसासे विरत श्रावकोंको रात्रि-भोजनका अवश्य ही त्याग करना चाहिए ॥७३॥

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा ।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न सम्भवति ॥७४॥

रागादिक भावोंके उदयकी उत्कटतासे अत्यागभाव वाले पुरुष हिंसाका उल्लंघन नहीं कर सकते है, तो रात-दिन आहार करने वाले जीवके हिंसा कैसे संभव नहीं है, अर्थात् अवश्य है ॥७४॥

भावार्थ—जिस जीवके तीव्र रागभाव होता है वह त्याग नहीं कर सकता, अतः जिसे भोजनसे अधिक राग होगा, वही रात-दिन खायेगा। और जहाँ राग है वहाँ हिंसा अवश्य है।

आशंका

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः ।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥७५॥

यदि ऐसा है, अर्थात् सदाकाल भोजन करनेमें हिंसा होती है, तो दिनमें भोजनका त्याग करना चाहिए और रात्रिमें खाना चाहिए, क्योंकि, इस प्रकारसे हिंसा सदाकाल नहीं होगी ॥७५॥

समाधान

नैवं वासरभुक्तेः भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्नकवलस्य भुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥७६॥

उपर्युक्त आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि, अन्नका ग्रास खानेकी अपेक्षा मांसका ग्रास खानेमें जिस प्रकार राग अधिक होता है, उसी प्रकार दिनमें भोजन करनेकी अपेक्षा रात्रि-भोजन करनेमें निश्चयसे रागकी अधिकता होती है ॥७६॥

भावार्थ—उदर भरणकी अपेक्षा सर्व प्रकारके भोजन समान हैं, परन्तु अन्नके भोजनमें जैसा सामान्य रागभाव होता है, वैसा मांस-भोजनमें नहीं होता, किन्तु मांस-भक्षणमें विशेष ही राग भाव होता है, क्योंकि अन्नका भोजन सब मनुष्योंको सहज ही मिलता है और मांसका भोजन विशेष प्रयत्न-साध्य और प्राणि-घातसे ही सम्भव है। इसी प्रकार दिनका भोजन अल्प प्रयत्न-साध्य है, अतः उसमें साधारण राग भाव होता है किन्तु रात्रिका भोजन महा-प्रयत्नसे ही संभव है, आरम्भ आदि बहुत करना पड़ता है, अंधेरेमें जाने-आने, पकाने-खानेमें विपुल हिंसा होती है, और भोजनकी अधिक लोलुपता होती है, अतः रागभाव अधिक ही होता है, अतएव रात्रि भोजन त्याज्य ही है।

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम् ।
अपि बोधितः प्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥७७॥

सूर्यके प्रकाशके विना रात्रिमें भोजन करनेवाले पुरुषके दीपक के जलाने पर भी भोजनमें गिर गये सूक्ष्म जन्तुओंकी हिंसा किस प्रकार दूर की जा सकती है? अर्थात् दूर नहीं की जा सकती ॥७७॥

भावार्थ—दीपकके प्रकाशमें सूक्ष्म त्रस जीव दृष्टिगोचर नहीं होते, तथा रात्रिमें दीपक-बिजली आदिके प्रकाशसे नाना

प्रकारके जीवोंका भारी संचार होता है, और उनका भोजनमें पतन निश्चित है, अतएव रात्रि-भोजनमें प्रत्यक्ष हिंसा है। जो रात्रि-भोजन करता है, वह हिंसासे कभी बच नहीं सकता।

जलोदरादिकृद्यूकाद्यङ्कमप्रेक्ष्यजन्तुकम्।
प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी ॥७८॥

जलोदर आदिको करनेवाले जूँ आदि जिसमें गिर पड़े, तो भी दिखाई नहीं देते, जो भूत प्रेत आदिसे जूँठा कर लिया गया है, अथवा खा लिया गया है; ऐसे भी भोजनको रात्रिमें खाता हुआ मनुष्य अपनेको सुखी मानता है, यह बड़ा आश्चर्य है ॥७८॥

भावार्थ—रात्रिभोजनमें पड़ा हुआ जूँ भी जीरा-सा दिखता है, वह यदि खानेमें आजाय तो जलोदररोग हो जाता है, कीड़ी खानेमें आजाय तो मेधा बढ जाती है, मकड़ीके खालेने पर कोढ़ निकल आता है, बाल खालेने पर स्वर भंग हो जाता है, इस प्रकार सैकड़ों अनर्थोंकी जड़भूत भी इस रात्रिभुक्तिको करते हुए लोग आनन्दका अनुभव करते है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।

उलूककाकमार्जारगृध्रशम्बरशूकराः।
अहिवृश्चिकगोधाश्च जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥७९॥

रात्रि-भोजन करनेके पापसे यह जीव उल्लू, कौवा, बिल्ली, गीध, स्याल, शूकर, साप, बिच्छू और गोहरा होता है ॥७९॥

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥८०॥

बहुत अधिक कहनेसे क्या, जो पुरुष मन, वचन, कायसे

रात्रिभोजनका त्याग करता है वह निरन्तर अहिंसाका पालन करता है ॥८०॥

भावार्थ--जिस भाग्यशालीने रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग कर दिया है वही सच्चा अहिंसक है।

ऊपर जिन पाँच अणुव्रतोंका वर्णन किया गया है, उनकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले व्रतोंको गुणव्रत कहते है। वे तीन होते है। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत। यहाँ उसका क्रमसे वर्णन किया जाता है—

> **परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।**
> **व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥८१॥**

जिस प्रकार परिखा (खाई) या नगर-कोट नगरोंकी रक्षा करते है, उसी प्रकार शील पाँच अणुव्रतोंकी रक्षा करते है। इसलिए श्रावकको अपने व्रतोंकी रक्षाके लिए सात शीलोंका अवश्य पालन करना चाहिए ॥८१॥

दिग्व्रतका स्वरूप

> **प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।**
> **प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता ॥८२॥**

सुप्रसिद्ध ग्राम, नदी, पर्वतादि प्रत्यभिज्ञानोंसे (चिह्न-विशेषोंसे) सब ओर मर्यादा करके पूर्व आदि दिशाओंका अविचल त्याग करना चाहिए। अर्थात् मर्यादित क्षेत्रसे बाहर यावज्जीवन नहीं जाना-आना चाहिए ॥८२॥

दिग्व्रतसे लाभ

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य ।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥८३॥

इस प्रकार मर्यादा किये गये दिग्विभागमें ही जो गमनागमनादिकी प्रवृत्ति करता है, उसके उस क्षेत्रसे बाहर समस्त असंयमभावके दूर हो जानेसे परिपूर्ण अहिंसाव्रत होता है ॥८३॥

भावार्थ—जहाँ तकके क्षेत्रकी मर्यादा की गई है, उससे बाहर समस्त त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसासे निवृत्ति रहती है, इसलिए वहाँ अहिंसाव्रतका पूर्णतः परिपालन होता है। यही दिग्व्रत-धारणका महान् लाभ है।

देशव्रतका स्वरूप

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् ।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥८४॥

उस दिग्व्रतमें भी ग्राम, बाजार, मन्दिर, मुहल्ला आदिका परिमाण करके मर्यादित क्षेत्रसे बाहर जाने-आनेका नियत काल पर्यन्त त्याग करना चाहिए ॥८४॥

भावार्थ—प्रतिदिन जितने क्षेत्रमें जाने-आनेकी संभावना हो, उतने क्षेत्रमें जाने-आनेके नियम लेनेको देशव्रत कहते है।

देशव्रतसे लाभ

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥८५॥

इस प्रकार अनावश्यक बहुत क्षेत्रसे विरत निर्मल-बुद्धि श्रावक

उस नियत कालमें तत्क्षेत्र-जनित हिंसा-विशेषके त्यागसे विशिष्ट अहिंसाको आश्रय करता है ॥८५॥

भावार्थ—देशव्रतमें ली गई क्षेत्र-मर्यादाके बाहर सर्वपापोंकी निवृत्तिसे उस श्रावकके अणुव्रत भी महाव्रतके तुल्य हो जाते हैं।

जिनसे अपना कोई प्रयोजन सिद्ध न हो, ऐसे व्यर्थके पाप-वर्धक कार्योंके करनेको अनर्थदण्ड कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसादान और दुःश्रुति। यहाँ इनके क्रमसे वर्णन किया जाता है।

अपध्यानअनर्थदण्ड

पापर्द्धि-जय-पराजय-संगर-परदार-गमन-चौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥८६॥

आखेट-गमन, जय-पराजय, युद्ध, परस्त्री-गमन और चोरी आदिका विचार करना अपध्यान अनर्थदण्ड है। इसका किसी भी समय चिन्तवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे केवल पापका ही संचय होता है और कोई लाभ नहीं होता है ॥८६॥

पापोपदेश-अनर्थदण्ड

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥८७॥

विद्या, व्यापार, लेखनकला, खेती, सेवा और कारीगरीसे जीविका करनेवाले पुरुषोंको पापका उपदेश देना पापोपदेश अनर्थ-दण्ड है। अतएव पापका उपदेश कभी भी नहीं देना चाहिए ॥८७॥

प्रमादचर्या-अनर्थदण्ड

भूखनन-वृक्षमोट्टन-शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥८८॥

निष्कारण पृथिवी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, हरी दूर्वा पर चलना, पानी सींचना, तथा पत्र, फल और फूलोंका संचय करना प्रमादचर्या है, इसे नहीं करना चाहिए ॥८८॥

हिंसादान-अनर्थ दण्ड

असि-धेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥८९॥

छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार और धनुष आदि हिंसाके उपकरणोंका दूसरोंको देना हिंसादान अनर्थदण्ड है, इसका यत्न-पूर्वक त्याग करे ॥८९॥

दुःश्रुति-अनर्थदण्ड

रागादिवर्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥९०॥

राग-द्वेषादिके बढ़ानेवाली और अज्ञानतासे भरी हुई खोटी कथाओंका सुनना, संग्रह करना और शिक्षण देना सो दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है, उसे कदाचित् भी नहीं करना चाहिए ॥९०॥

द्यूत-त्यागका उपदेश

सर्वानर्थप्रथनं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः ।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥९१॥

सर्व अनर्थोंका जनक, सन्तोष और पवित्रताका नाशक, माया-

चारका सदन, चोरी और असत्यका आस्पद जूआको दूरसे ही त्याग करना चाहिए ॥९१॥

भावार्थ—व्यापारिक सौदे-सट्टे भी द्यूत-व्यसनके अन्तर्गत हैं, अतः व्रती पुरुष उनका भी परित्याग करे।

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः ।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥९२॥

इस प्रकारके अन्य भी अनर्थदण्डोंको जान कर जो पुरुष उनका त्याग करता है, उसका अहिंसाव्रत निर्दोष होकर सदा विजयको प्राप्त होता है ॥९२॥

श्रावकका लक्ष्य सदा आगे बढ़नेका रहता है, अतएव वह समस्त पापोंके त्यागकी शिक्षा देने वाले शिक्षाव्रतोंका भी पालन करता है। शिक्षाव्रतके चार भेद हैं—सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग या वैयावृत्य। यहाँ पर उनका क्रमसे वर्णन किया जाता है।

सामायिक-शिक्षाव्रत

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य ।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥९३॥

राग और द्वेषका त्यागकर तथा समस्त द्रव्योंमें साम्यभावका आलम्बन कर तत्त्वोंके रहस्य-प्राप्तिका मूल कारण सामायिक बारम्बार करना चाहिए ॥९३॥

रजनी-दिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम् ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥९४॥

सामायिकको रात्रि और दिनके अन्तमें एकाग्रतापूर्वक अवश्य

ही करना चाहिए। यह सामायिक उक्त समयके अतिरिक्त यदि अन्य समयमें की जाय, तो कोई दोप नहीं प्रत्युत गुणके लिए ही है अर्थात् गुण-वर्धक है ॥९४॥ .

सामायिकं श्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥९५॥

सामायिक करने वाले जीवोंके समस्त सावद्य योगका परिहार हो जानेसे चारित्र-मोहका उदय होने पर भी उनके अणुव्रत महाव्रतरूप हो जाते है ॥९५॥

भावार्थ—सामायिक करते समय अणुव्रती गृहस्थ भी महाव्रतीके समान है।

प्रोषधोपवास-शिक्षाव्रत

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्त्तुम् ।
पक्षार्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥९६॥

प्रतिदिन धारण किये हुए सामायिकके संस्कारको स्थिर करने के लिए दोनों पक्षोंके अर्ध भागमें उपवास अवश्य ही करना चाहिए ॥९६॥

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोपधदिनपूर्ववासरस्यार्धे ।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥९७॥

प्रोषधोपवास करनेके पूर्ववर्ती दिनके आधे समयसे समस्त आरम्भ छोड़कर और शरीरादिकसे ममत्व त्यागकर उपवासको ग्रहण करे ॥९७॥

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥९८॥

उपवास ग्रहण करनेके अनन्तर एकान्त वसतिकामें जाकर समस्त सावद्ययोगका परिहार कर और सर्व इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर मन, वचन और कायकी रक्षा करता हुआ ठहरे ॥९८॥

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिः ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥९९॥

धर्मध्यानमें लवलीन होकर दिनका अवशिष्ट भाग बिताकर और सन्ध्याकालीन क्रियाओंको करके पवित्र विस्तरपर स्वाध्यायसे निद्राको जीतता हुआ रात्रिके तीन पहरोंको बितावे ॥९९॥

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१००॥

प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर और तात्कालिक क्रियाओंको करके प्रासुक द्रव्योंसे जिनभगवान्‌का आगमानुसार पूजन करे ॥१००॥

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१०१॥

पुनः उक्त विधिसे धर्मध्यान पूर्वक सम्पूर्ण दिनको और दूसरी रात्रिको बिताकर सावधानीसे तीसरे दिनके अर्धभागको भी बिताये ॥१०१॥

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१०२॥

इस प्रकार जो जीव समस्त सावद्ययोगसे रहित होकर सोलह पहर धर्मध्यान पूर्वक व्यतीत करता है, उसके उतने समय तक नियमसे सम्पूर्ण अहिंसा व्रत होता है ॥१०२॥

भावार्थ—उक्त विधिसे जो १६ पहर अर्थात् ४८ घण्टे तक अन्न-जलके सेवनका परित्याग कर सारा समय धर्माराधनमें व्यतीत करता है, उस समय उसे पूर्ण अहिंसाव्रती अर्थात् अहिंसा महाव्रत का धारक जानना चाहिए।

भोगोपभोगपरिणामशिक्षाव्रत

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥१०३॥

परिग्रह परिमाणके समय मर्यादा किये गये भी प्रयोजन भूत इन्द्रिय-विषयोंका राग और आसक्तिके कृश करनेके लिए परिमित संख्यामें रखनेका नियम करना भोगोपभोग परिमाण नामका तीसरा शिक्षाव्रत है ॥१०३॥

भोग और उपभोगका स्वरूप

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः ॥१०४॥

जो भोजन आदि पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषय एक बार भोग कर छोड़ दिये जाते है, वे भोग कहलाते हैं और जो वस्त्र आदि एक बार भोगकर पुनः सेवन करनेमें आते हैं, उन्हें उपभोग कहते है ॥१०४॥

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥१०५॥
यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति ॥१०६॥

जिनके भक्षण करनेसे शारीरिक लाभ तो कम हो, और

स्थावर जीवोंकी हिंसा अधिक हो, ऐसे जमीकन्द, मूली, गीला अदरक, मक्खन, नीमके फूल और केतकीके फूल इत्यादिका खाना छोड़ देना चाहिए। जो भक्ष्य होने पर भी हानिकर हो उसे अनिष्ट कहते है। जो भले पुरुषोंके सेवन करने योग्य न हो उसे अनुपसेव्य कहते हैं। सो ऐसे अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थोंका भी त्याग करना चाहिए। क्योंकि किसी भी योग्य विषयसे अभिप्राय पूर्वक जो त्याग किया जाता है उसे जिन-शासनमें व्रत कहा गया है ॥१०५–१०६॥

अतिथिसंविभाग-शिक्षाव्रत

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१०७॥

आगे कहे जानेवाले दातारके गुणोंसे युक्त श्रावकको चाहिए कि यथाजातरूपके धारक दिगम्बर साधुके लिए विधिपूर्वक नवधा भक्तिके साथ आहारादि द्रव्यविशेषका स्व और परके अनुग्रह-निमित्त अवश्य ही विभाग करे। इसे अतिथिसंविभाग नामका चौथा शिक्षा व्रत कहते हैं ॥१०७॥

नवधा भक्तिके नाम

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१०८॥

भक्ति पूर्वक अतिथिके सम्मुख जाकर उन्हें संग्रह करना अर्थात् पड़िगाहना, ऊँचा स्थान देना, चरण धोना, पूजन करना, नमस्कार करना, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि, इस नव प्रकारकी भक्तिको पात्रदानकी विधि कहा गया है ॥१०८॥

दाताके सप्त गुण

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥१०६॥

इस लोक सम्बन्धी फलकी अपेक्षारहितता, क्षमाभाव, निष्कपटता, ईर्ष्यारहितता, विषादरहितता, प्रमोदभाव और निरभिमानता, इस प्रकार ये सात दाताके गुण हैं ॥१०६॥

दानमें देने योग्य द्रव्य कैसा होना चाहिए ?

रागद्वेषासंयममदुःखभयादिकं न यत्कुरुते ।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥११०॥

जो द्रव्य राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख और भय आदिको उत्पन्न नहीं करे, किन्तु जो उत्तम तप व स्वाध्यायकी वृद्धि करनेवाला हो, वही द्रव्य अतिथिके लिए देने योग्य है ॥११०॥

भावार्थ—दानमें ऐसा ही पदार्थ देना चाहिए जो विकार भावोंको उत्पन्न न करे और तपश्चरणादिका वर्धक हो। साधु या व्रती पुरुषको शरीर-यात्राके लिए शुद्ध प्रासुक आहारदान, रोग-शमनके लिए निर्दोष औषधिदान, अज्ञान निवृत्तिके लिए शास्त्रदान और भय मिटानेके लिए अभयदान देना आवश्यक है।

दानके देने योग्य पात्रके भेद

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१११॥

मोक्षके कारणभूत गुणोंका संयोगवाला पात्र तीन प्रकारका कहा गया है। इनमें अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है, संयता-

संयत अर्थात् देशचारित्रका धारक श्रावक मध्यम पात्र है और सकल चारित्रका धारक साधु उत्कृष्ट पात्र है ॥१११॥

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने ।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥११२॥

यतः इस दानमें हिंसाका पर्यायी लोभ नष्ट किया जाता है, इसलिए अतिथिको दान देना, दूसरे शब्दोंमें हिंसाका परित्याग ही माना गया है ॥११२॥

अतिथिको दान नहीं देनेवाला पुरुष लोभी है, अतः हिंसक है

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥११३॥

जो गृहस्थ घर पर आये हुए संयमादि गुणोंसे युक्त, और भ्रामरी वृत्तिसे दूसरोंको पीडित नहीं करनेवाले अतिथि साधुके लिए भोजनादिक वितरण नहीं करता है, वह लोभवान् कैसे नहीं है ? अपि तु है ही ॥११३॥

किन्तु दान देनेवाला यतः लोभ-परित्यागी है, अतः अहिंसक है

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः ।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥११४॥

जो अपने लिए बनाये हुए भोजनको मुनिके लिए देता है, वह भावपूर्वक किया गया, अरति और विषादसे विमुक्त और लोभको शिथिल करनेवाला दान अहिंसारूप ही होता है ॥११४॥

इस प्रकार चारों शिक्षाव्रतोंका वर्णन समाप्त हुआ ।

मरणकालमें सल्लेखना या संन्यासका धारण करना श्रावकका परम कर्त्तव्य है, व्रतरूपी मन्दिर पर कलश चढानेके समान है, अतएव अब सल्लेखनाका वर्णन करते है—

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥११५॥

यह एक अकेली ही सल्लेखना मेरे धर्मरूपी धनको मेरे साथ ले चलनेके लिए समर्थ है, इस प्रकार भक्ति करके मरणके समय सल्लेखनाकी प्राप्तिके लिए निरन्तर भावना करना चाहिए ॥११५॥

भावार्थ—प्रसन्नता पूर्वक विना किसीके आग्रहके कषाय और शरीरके कृश करनेको सल्लेखना कहते है । यह सल्लेखना जीवनके अन्तमें धारण की जाती है ।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥११६॥

मै मरणके समय अवश्य ही विधिपूर्वक सल्लेखना करूँगा, इस भावनासे परिणत होकर मरण-काल प्राप्त होनेके पूर्व ही यह सल्लेखना व्रत पालन करना चाहिए ॥११६॥

सल्लेखना या समाधिमरण आत्मघात नहीं है

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥११७॥

अवश्य ही मरणके होने पर कषाय सल्लेखनाके कृशीकरणमात्र व्यापारमें प्रवर्तमान पुरुषके रागादिभावके विना आत्मघात नहीं है ॥११७॥

भावार्थ—यतः समाधिमरण करनेवाले पुरुषके परिणामोंमें

किसी भी प्रकारका राग-द्वेषादि नहीं है, अतः उसके इस कार्यको आत्मघात नहीं कहा जा सकता।

किन्तु कषायपूर्वक प्राणत्याग करनेवाला आत्मघाती कहलाता है—

यो हि कषायाविष्टः कुम्भक-जल-धूमकेतु-विष-शस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥११८॥

जो कषायोंसे अभिनिविष्ट पुरुष श्वास-निरोध, जल-प्रवेश, अग्नि-प्रवेश, विष-भक्षण और शस्त्रके प्रहारसे अपने प्राणोंको पृथक् कर देता है, उसके वस्तुतः आत्मघात होता है अर्थात् कषायपूर्वक प्राणत्याग करनेवाला मनुष्य अवश्य ही आत्मघाती है ॥११८॥

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसां प्रसिद्ध्यर्थम् ॥११९॥

यतः इस संन्यासमरणमें हिंसाके कारणभूत कषाय क्षीण किये जाते हैं, अतः आचार्योंने सल्लेखनाको भी अहिंसाकी प्रसिद्धिके लिए कहा है ॥११९॥

सल्लेखनाका समय और स्वरूप

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२०॥

निष्प्रतीकार उपसर्गके, या दुर्भिक्षके, या वृद्धपनाके, अथवा रोगके आजाने पर धर्मकी रक्षाके लिए जो शरीरका त्याग किया जाता है, उसे आर्य पुरुषोंने सल्लेखना कहा है ॥१२०॥

सल्लेखनाकी आवश्यकता क्यों है?

अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥१२१॥

मरणके समय संन्यासका धारण करना ही जीवन भरकी तपस्याका फल है, ऐसा सकलदर्शी योगियोंने कहा है। इसलिए जब तक सामर्थ्य बनी रहे, तब तक समाधिमरणमें अवश्य प्रयत्न करना चाहिए ॥१२१॥

समाधिमरणकी विधि

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥१२२॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥१२३॥
शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥१२४॥
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत् पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥१२५॥
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥१२६॥

अपने कुटुम्बियों और मित्रोंसे स्नेहको छोड़कर, शत्रुओंसे वैर को छोड़कर, सांसारिक आरम्भ और परिग्रहको भी छोड़कर, शुद्ध मन होकर स्वजन और परिजनोंको क्षमाकर, प्रिय वचनोंसे अपनेको क्षमा करावे। पुनः अपने जीवनमें किये गये सर्व पापोंकी मन, वचन, कायसे और कृत कारित अनुमोदनासे निश्छल भावपूर्वक आलोचना करके मरणपर्यन्त स्थायी रहनेवाले समस्त महाव्रतोंको धारण करे। पुनः शोक, भय, विषाद, क्लेद, कलुषता और अरति को भी छोड़कर बल-वीर्य और उत्साहको प्रकट कर अमृतमयी शास्त्रवचनोंसे मनको प्रसन्न करना चाहिए। पुनः खाद्य स्वाद्य और

लेह्य आहारको क्रमशः छोड़कर स्निग्ध पानको बढ़ावे, अर्थात् केवल दुग्धादि पीकर रहे। पुनः क्रमसे स्निग्ध पानको भी छोड़कर क्रमसे खर पानको बढ़ावे अर्थात् छांछ, कांजी, सोंठ आदिके जल और उष्ण जलपर निर्भर रहे। क्रमसे खरपानका भी त्याग करके शक्तिके अनुसार कुछ दिन उपवासोंको भी करके पञ्च नमस्कार मन्त्रका चिन्तवन करते हुए पूर्ण सावधानीके साथ शरीरका परित्याग करे ॥१२२-१२६॥

समाधिमरणका फल

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥१२७॥

जिस पुरुषने आजीवन धर्मामृतका पान किया है और अन्तिम समय समाधिमरणको धारण किया है, वह स्वर्गीय सुखोंको भोगकर अन्तमें सर्व दुःखोंसे रहित होता हुआ अगम, अपार सागर ऐसे निश्रेयस सुखके अर्थात् मोक्षके परम अमृत रसका पान करता है। अर्थात् सांसारिक उत्कृष्ट सुखोंको भोगकर अन्तमें सर्वोत्कृष्ट परम निर्वाण सुखको प्राप्त करता है ॥१२७॥

अब श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन करते हैं—

श्रावक घरमें रहते हुए और पूर्वोक्त बारह व्रतोंका परिपालन करते हुए जो अपने व्रतोंमें उत्तरोत्तर उन्नति करता है, विशुद्धि प्राप्त करता है, उसके क्रमिक विकास-सम्बन्धी ग्यारह कक्षाएँ है, जिन्हें प्रतिमा या श्रावकपद कहते हैं। इनमेंसे दशवीं प्रतिमा तक श्रावक घरमें रहते हुए धर्म साधन कर सकता है। किन्तु ग्यारहवीं प्रतिमा के लिए गृहत्याग आवश्यक है।

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१२८॥

गणधरदेवने श्रावकोंके ग्यारह पद या स्थान कहे है, जिनमें निश्चयसे विवक्षित पदके गुण पूर्वपदसम्बन्धी गुणोंके साथ क्रमसे बढ़ते हुए रहते हैं, अर्थात् आगामी प्रतिमावालेके लिए पूर्व प्रतिमा सम्बन्धी गुणोंका धारण करना आवश्यक है ॥१२८॥

१ दर्शनप्रतिमा

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसार-शरीर-भोगनिर्विण्णः ।
पञ्चगुरुचरणशरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥१२९॥

जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है, संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त है, पंच परम गुरुओंके चरणोंके शरणको प्राप्त है और सत्यमार्गके ग्रहण करनेका पक्षवाला है, वह दर्शनप्रतिमाका धारी दार्शनिक श्रावक है ॥१२९॥

२ व्रतप्रतिमा

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकञ्चापि ।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१३०॥

जो श्रावक माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित होकर निरतिचार अर्थात् अतिचार-रहित निर्दोष पॉच अणुव्रत और सात शीलव्रतोंको धारण करता है, वह व्रती पुरुषोंके मध्यमें व्रतप्रतिमाका धारी व्रतिक श्रावक माना गया है ॥१३०॥

३ सामायिकप्रतिमा

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुःप्रणामस्थितो यथाजातः ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१३१॥

जो चार बार तीन-तीन आवर्त्त, और चार प्रणाम करके यथा-जात बालकके समान निर्विकार बनकर खड्गासन या पद्मासनसे बैठकर मन-वचन-काय शुद्ध करके तीनों संध्याओंमें देव-गुरु-शास्त्रकी वन्दना और प्रतिक्रमण आदि करता है, वह सामायिक-प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है ॥१३१॥

विशेषार्थ—दोनों हाथोंको जोड़कर बाईं ओरसे दाईं ओर घुमानेको आवर्त्त कहते हैं। सामायिक करनेके पूर्व एक-एक दिशामें तीन-तीन आवर्त्त करना चाहिए और आवर्त्तके अन्तमें एक नमस्कार करना चाहिए। इस प्रकार चारों दिशाओं सम्बन्धी बारह आवर्त्त और चार नमस्कार हो जाते हैं। पुनः बैठकर या खड़े होकर सामायिक करना चाहिए। प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल देव-वन्दना करना, बारह भावनाओंका चिन्तवन करना, अपने दोषोंकी आलोचना करते हुए आत्मनिरीक्षण करना, प्रतिक्रमण करना आदि सर्व क्रियाएँ सामायिकके ही अन्तर्गत हैं। सामायिकका उत्कृष्टकाल ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य २ घड़ी है।

४ प्रोषधप्रतिमा

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे-मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥१३२॥

प्रत्येक मासकी दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चारों ही पर्वोंमें अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर सावधान हो प्रोषधोपवास करने वाला प्रोषधनियम-विधायी श्रावक कहलता है ॥१३२॥

भावार्थ—एक बार भोजन करनेको प्रोषध कहते हैं और सर्व

प्रकारके भोजन त्यागको उपवास कहते हैं। जब एकाशनके साथ उपवास किया जाता है तब उसे प्रोषधोपवास कहते है।

५ सचित्तत्यागप्रतिमा

मूल-फल-शाक-शाखा-करी-कन्द-प्रसून-बीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्त्तिः ॥१३३॥

जो दया-मूर्ति श्रावक कच्चे कन्द, मूल, फल, शाक, शाखा, कैर, कन्द, फूल और बीजोंको नहीं खाता है, वह सचित्तत्याग-प्रतिमाधारी कहलाता है ॥१३३॥

६ रात्रि-भोजनत्यागप्रतिमा

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥१३४॥

जो रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकारके आहारको प्राणियों पर अनुकम्पाशील चित्त होकर नहीं खाता है, वह रात्रिभुक्तिविरत श्रावक है ॥१३४॥

विशेषार्थ—इस प्रतिमाके पूर्व औषधादिके कादाचित्क कुछ अपवाद रात्रिमें लेनेके थे, किन्तु छठीं प्रतिमामें औषधि तो क्या, जल तकका भी त्याग आवश्यक है, इतना ही नहीं, भोजन पान भी दिनके दो घड़ी उदयकाल और अस्तकालमें लेने तकका निषेध है।

७ ब्रह्मचर्यप्रतिमा

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतगन्धि बीभत्सम् ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१३५॥

जो पुरुष स्त्रीके कामाङ्गको यह मलका बीज है, मलकी योनि है, निरन्तर इससे मल गलता रहता है, दुर्गन्ध युक्त है, और

बीभत्स है, इस प्रकार देखता हुआ उससे विरक्त होता है वह ब्रह्मचारी श्रावक है ॥१३५॥

भावार्थ—इस प्रतिमाका धारी स्वस्त्रीका सेवन भी सर्वथा त्यागकर पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाता है।

८ आरम्भत्याग-प्रतिमा

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥१३६॥

जो श्रावक जीवहिंसाके कारणभूत सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भसे विरक्त हो विश्राम लेता है, वह आरम्भत्यागप्रतिमाका धारी है ॥१३६॥

भावार्थ—इस प्रतिमाका धारी सर्व प्रकारके व्यापारिक या खेती-बाड़ी सम्बन्धी धन्धे छोड़ देता है और जो कुछ भी पूर्व संचित धन है, उस पर ही सन्तोष कर जीवन यापन करता है।

९ परिग्रह-त्याग-प्रतिमा

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥१३७॥

जो श्रावक क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, दासी, दास, कुप्य और भाण्ड, इन दश प्रकारके बाह्य परिग्रहमें ममताको छोड़कर और निर्ममतामें रत होकर आत्मस्थ हो सन्तोषको धारण करता है, वह बाह्य परिग्रहसे विरक्त नवीं प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥१३७॥

१० अनुमतित्याग-प्रतिमा

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१३८॥

जिस श्रावककी किसी भी प्रकारके आरम्भमें, अथवा परिग्रहमें या ऐहिक कार्योंमें अनुमोदना नहीं रहती है, वह समबुद्धि अनुमति-त्यागी श्रावक मानना चाहिए ॥१३८॥

भावार्थ--इस प्रतिमाका धारी श्रावक घरमें रहते हुए भी किसी भी लौकिक कार्यमें पूछे जाने पर भी अपनी सम्मति नहीं देता है और परम उदासीनताका अनुभव करता हुआ जलमें भिन्न कमलके समान घरमें अलिप्त भावसे उदासीन होकर रहता है।

११ उद्दिष्टत्यागप्रतिमा

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१३९॥

जो श्रावक अपने घरसे मुनिवनको जाकर गुरुके समीपमें व्रतोंको ग्रहण करके भिक्षावृत्तिसे आहार करता है, चेलखण्डको धारण करता है और रातदिन तपस्या करता रहता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है। यह अपने निमित्तसे बने हुए आहारको ग्रहण नहीं करता है, इसलिए इसे उद्दिष्टाहारत्यागी श्रावक कहते है ॥१३९॥

उक्त ग्यारह प्रतिमाओंमें उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्यका विभाग और उनकी संज्ञाओंका निर्देश करते हैं—

षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः ।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥१४०॥

प्रारम्भके छह प्रतिमाधारी गृहस्थ कहलाते हैं और वे जघन्य श्रावक है। सातवीं आठवीं नवीं प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी या वर्णी कहलाते है और वे मध्यम श्रावक है। दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाके

धारक भिक्षुक कहलाते हैं और वे उत्कृष्ट श्रावक हैं। इससे आगे सर्व परिग्रह रहित पूर्ण दिगम्बर साधुका ही स्थान है ॥१४०॥

श्रावक सम्बन्धी आचारका विशेष वर्णन जाननेके लिए रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमितगतिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत और लाटी संहिता आदि देखना चाहिए।

इस प्रकार श्रावक धर्मका वर्णन करनेवाला चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

• पञ्चम अध्याय : संक्षिप्त सार •

इस अध्यायमें चारित्रके दूसरे भेद सकल चारित्रका वर्णन किया गया है। सर्व पापोंके सर्वथा त्यागको सकल चारित्र कहते हैं। इस सकल चारित्रको धारण करनेके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य घर-बार और सर्व आरम्भ-परिग्रह छोड़कर साधु बन जावे। इसका कारण यह है कि गृहस्थीमें रहते हुए निष्पाप जीवनका बिताना संभव नहीं है। गृहवासमें आरम्भ आदिके द्वारा कुछ न कुछ हिंसा होती है। अतएव जिनका हृदय प्राणि-पीड़ाके पापसे भयभीत और जीव-रक्षाके लिए करुणासे आर्द्र हो जाता है, वे पूर्ण निष्पाप जीवन बितानेके लिए सभी प्रकारके परिग्रहका परित्याग कर और यथाजात रूपको अंगीकार कर एक मात्र जीवोंकी रक्षा करते हुए आत्म साधनामें तल्लीन रहते है और शरीर-निर्वाहके लिए भोजन-वेलामें गृहस्थके घर जाकर उसकेद्वारा दी गई निर्दोष भिक्षा को स्वीकार करते हैं। इस सकल चारित्रके धारक साधुको २८ मूल गुणोंका पालना आवश्यक होता है, उन्हींका इस अध्यायमें विवेचन किया गया है और अन्तमें बतलाया गया है कि सकल चारित्रके धारक साधुओंको ही किन भिन्न भिन्न विशिष्ट गुणोंके कारण ऋषि, यति, मुनि, अनगार, वाचंयम, अनाश्वान् , योगी, परमहंस, अतिथि आदि विभिन्न नामोंसे पुकारा जाता है।

पञ्चम अध्याय

अनगार धर्मका वर्णन

युक्ताः पञ्चमहाव्रतैः समितयः पञ्चाक्षरोधाशयाः,
पञ्चावश्यकषड्कलुञ्चन वराचेलक्यमस्नानता ।
भूशय्यास्थितिभुक्तिदन्तकषणं चाह्न्येकभक्तं यता–
वेवं मूलगुणाष्टविंशतिरियं मूलं चरित्रश्रियः ॥१॥

सकल चारित्रके धारक अनगार साधुके पाँच महाव्रत, पाँच समितियां, पंच इन्द्रिय-विजय, छह आवश्यक, केशलुञ्चनता, अचेलकता, अस्नानता, भूशय्या, स्थितिभोजन, अदन्तधावन और एकभुक्ति, ये अट्ठाईस मूलगुण होते हैं, जो कि चारित्रलक्ष्मीकी प्राप्तिके मूल कारण हैं ॥१॥

पाँच महाव्रत

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसंगता ।
महाव्रतानि पञ्चैव निःशेषावद्यवर्जनात् ॥२॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापोंका निःशेपरूपसे त्याग करने पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और असंगता या परिग्रह त्याग रूप पाँच महाव्रत उत्पन्न होते हैं ॥२॥

१ अहिंसा महाव्रत

जन्मकायकुलाद्यैर्ज्ञात्वा सत्त्वततिं श्रुतेः ।
त्यागस्त्रिशुद्ध्या हिंसादेः स्थानादौ स्यादहिंसनम् ॥३॥

जन्म, काय, कुल और इन्द्रिय आदिके द्वारा शास्त्रानुसार

जीवोंके समुदायको जानकर उनकी हिंसा आदिका मन, वचन और कायसे सर्वथा त्याग करना अहिंसा महाव्रत है ॥३॥

२ सत्य महाव्रत

रागद्वेषादिजासत्यमुत्सृज्यान्याहितं वचः ।
सत्यं तत्त्वान्यथोक्तं च वचनं सत्यमुत्तमम् ॥४॥

राग-द्वेष आदिसे उत्पन्न हुए असत्यको, परके अहितकर वचनको और तत्त्वोंका अन्यथा कथन करने वाले वचनको छोड़ कर यथार्थ वचन कहना सत्य महाव्रत है ॥४॥

३ अचौर्य महाव्रत

बह्वल्पं वा परद्रव्यं ग्रामादौ पतितादिकम् ।
अदत्तं यत्तदादानवर्जनं स्तेयवर्जनम् ॥५॥

बिना दिये हुए, ग्राम, नगर या पर्वत पर गिरे, रखे या भूले हुए बहुत या अल्प पर-द्रव्यको नहीं ग्रहण करना अचौर्य त्याग महाव्रत है ॥५॥

४ ब्रह्मचर्य महाव्रत

रागालोककथात्यागः सर्वस्त्रीस्थापनादिषु ।
माताऽनुजा तनूजेति मत्या ब्रह्मव्रतं मतम् ॥६॥

मनुष्य, तिर्यंच और देव गति सम्बन्धी सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमें और काष्ठ, पुस्त, भित्ति आदि पर चित्राम आदिसे अंकित या स्थापित स्त्रीचित्रोंमें यह मेरी माता है, यह बहिन है, यह लड़की है, इस प्रकार अवस्थाके अनुसार कल्पना करके उनमें रागभावका, उनके देखनेका और उनकी कथाओंके करनेका त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत माना गया है ॥६॥

५ परिग्रहत्यागमहाव्रत

चेतनेतरबाह्यान्तरङ्गसङ्ग-विवर्जनम् ।
ज्ञानसंयमसङ्गो वा निर्ममत्वमसङ्गता ॥७॥

चेतन और अचेतन तथा बाह्य और अन्तरंग सर्व प्रकारके परिग्रहको छोड़ देना और निर्ममत्व भावको अंगीकार करना, अथवा ज्ञान और संयमका ही संगम करना सो असंगता नामक परिग्रह त्याग महाव्रत जानना चाहिए ॥७॥

पञ्च समितियाँ

ईर्याभाषैणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञिकाः ।
व्रतत्राणाय पञ्चैताः स्मृताः समितयो यतेः ॥८॥

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्गसमिति ये पाँच समितियाँ साधुके पाँच महाव्रतोंकी रक्षाके लिए कही गई हैं ॥८॥

१ ईर्यासमिति

पुरो युगान्तरेऽक्षस्य दिने प्रासुकवर्त्मनि ।
सदयस्य सकार्यस्य स्यादीर्यासमितिर्गतिः ॥९॥

दिनमें मार्गके प्रासुक हो जाने पर सामने चार हाथ भूमिको शोधते हुए कार्यवश गमन करनेवाले दयालु साधुके ईर्यासमितिरूप गति होती है ॥९॥

२ भाषासमिति

भेदपैशुन्यपरुषप्रहासोक्त्यादिवर्जिता ।
हितमितनिःसन्देहा भाषा भाषासमित्याख्या ॥१०॥

दूसरेका भेद करनेवाली, पैशुन्य, परुष, प्रहासोक्ति आदिसे

रहित, हित, मित और असंदिग्ध भाषा बोलना भाषासमिति है ॥१०॥

३ एषणासमिति

षट्चत्वारिंशद्दोषोना प्रासुकान्नादिकस्य या ।
एषणासमितिर्भुक्तिः स्वाध्यायध्यानसिद्धये ॥११॥

आहार सम्बन्धी छ्यालीस दोषोंसे रहित, प्रासुक अन्नादिकका स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धिके लिए ग्रहण करना एषणासमिति है ॥११॥

४ आदाननिक्षेपणसमिति

ज्ञानोपकरणादीनामादानं स्थापनं च यत् ।
यत्नेनादाननिक्षेपसमितिः करुणापरा ॥१२॥

ज्ञानके उपकरण शास्त्र-पुस्तकादिकोंका और संयम आदिके उपकरण पीछी कमण्डलु आदिका यत्नपूर्वक उठाना और स्थापन करना सो परम करुणावाली आदाननिक्षेपणसमिति है ॥१२॥

५ उत्सर्गसमिति

दूरगूढविशालाविरुद्धशुद्धमहीतले ।
उत्सर्गसमितिर्विण्मूत्रादीनां स्याद्विसर्जनम् ॥१३॥

दूरवर्ती गूढ, विशाल, अविरुद्ध और शुद्ध महीतलपर मल-मूत्र आदिका विसर्जन करना उत्सर्गसमिति है ॥१३॥

पञ्चेन्द्रिय-विजयता

चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वास्पर्शाक्षगोचरे भिक्षोः ।
रत्यरतिचित्तवृत्ते रोधः स्यादक्षसंरोधः ॥१४॥

चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन इन्द्रियके इष्ट-अनिष्ट

विषयमें रति और अरति रूप मनोवृत्तिका निरोध करना साधुकी पञ्चेन्द्रिय-विजयता है ॥१४॥

१ चक्षुरिन्द्रियविजय

चेतनेतरवस्तूनां हर्षामर्षाकरक्रिया ।
वर्णसंस्थानभेदेषु चक्षुरोधोऽविकारधीः ॥१५॥

चेतन और अचेतन पदार्थोंके नाना भेदवाले वर्णोंमें और संस्थानोंमें हर्ष और आमर्ष करनेवाली क्रिया नहीं करना, उनमें निर्विकार बुद्धि रहना चक्षुरिन्द्रिय-विजयगुण है ॥१५॥

२ श्रोत्रेन्द्रियविजय

जीवाजीवोभयोद्भूते चेतोहारीतरस्वरे ।
रागद्वेषाविलस्वान्तदण्डनं श्रोत्रदण्डनम् ॥१६॥

जीव, अजीव और दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए चित्तको हरण करनेवाले सुस्वरमें रागसे और व्याकुल करनेवाले दुःस्वरमें द्वेषसे व्याप्त चित्तका निग्रह करना श्रोत्रेन्द्रियविजय गुण है ॥१६॥

३ घ्राणेन्द्रियविजय

प्रकृतिप्रयोगगन्धे जीवाजीवोभयाश्रये ।
शुभेऽशुभे मनःसाम्यं घ्राणेन्द्रियजयं विदुः ॥१७॥

जीव, अजीव और उभयके आश्रयसे होनेवाले शुभ और अशुभ प्रकृति या प्रयोग जनित गन्धमें मनको समान रखना सो घ्राणेन्द्रिय विजय नामका गुण जानना चाहिए ॥१७॥

४ रसनेन्द्रियविजय

गृहिदत्तेऽन्नपानादावदोषे समतायुतम् ।
गात्रयात्रानिमित्तं यद्भोजनं रसनाजयः ॥१८॥

गृहस्थके द्वारा दिये गये रूखे सूखे निर्दोष अन्न-पानादिकमें

समता भावसे युक्त होकर शरीर-यात्राके निमित्त जो भोजन करना सो रसनेन्द्रिय विजय है ॥१८॥

५ स्पर्शनेन्द्रियविजय

जीवाजीवोभयस्पर्शे कर्कशाद्यष्टभेदके ।
शुभेऽशुभेऽतिमध्यस्थं मनः स्पर्शाक्षनिर्जयः ॥१६॥

जीव अजीव और दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए, कर्कश, कोमल आदि आठ भेदवाले, शुभ और अशुभ स्पर्शमें मनको अत्यन्त मध्यस्थ रखना स्पर्शनेन्द्रिय-विजयगुण है ॥१९॥

छह आवश्यक

आवश्यकक्रियाषट्कं समतास्तववन्दनम् ।
सप्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायविसर्जनम् ॥२०॥

समता, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक कहलाते हैं ॥२०॥

१ समता-आवश्यक

लाभालाभ-सुखक्लेशप्रमुखे समता मतिः ।
स्वायत्तकरणस्वान्तज्ञानिनः समता मता ॥२१॥

लाभ और अलाभमें, सुख और दुःखमें, नगर और वनमें, शत्रु और मित्रमें, काच और कांचनमें समान बुद्धि रखना समता आवश्यक है। इसके गुणके द्वारा ही ज्ञानी जन अपने अन्तःकरणमें सम-भावको धारण करते है ॥२१॥

२ चतुर्विंशति स्तवन-आवश्यक

कृत्वा गुणगणोत्कीर्तिनामव्युत्पत्तिपूजनम् ।
वृषभादिजिनाधीशस्तवनं स्तवनं मतम् ॥२२॥

तीर्थंकरोंके गुणोंका कीर्तन करना, नामोंकी निरुक्ति करना, उनकी पूजा करना, ऋषभ आदि जिनेश्वरोंकी स्तुति करना स्तवन-आवश्यक है ॥२२॥

३ वन्दना-आवश्यक

जैनैकतीर्थकृत्सिद्धसाधूनां क्रिययान्वितम् ।
वन्दनं स्तुतिमात्रं वा बन्दनं पुण्यनन्दनम् ॥२३॥

जिन-सामान्यकी, किसी एक तीर्थंकरकी, सिद्धोंकी और साधुओंकी क्रियाकलापसे युक्त वन्दना करना या स्तुति करना सो पुण्यका कारण वन्दना-आवश्यक है ॥२३॥

४ प्रतिक्रमण-आवश्यक

निन्दनं गर्हणं कृत्वा द्रव्यादिषु कृतागसाम् ।
शोधनं वाङ्मनःकायैस्तत्प्रतिक्रमणं मतम् ॥२४॥

अपनी निन्दा और गर्हा करके द्रव्य आदिमें किये गये अपराधोंका मन, वचन, कायके द्वारा शोधन करना प्रतिक्रमण आवश्यक है ॥२४॥

५ प्रत्याख्यान-आवश्यक

यन्नामस्थापनादीनामयोग्यपरिवर्जनम् ।
त्रिशुद्ध्याऽनागते काले तत्प्रत्याख्यानमीरितम् ॥२५॥

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिके आश्रयसे भविष्य कालके लिए अयोग्य द्रव्यादिका मन वचन कायसे परित्याग करना प्रत्याख्यान-आवश्यक है ॥२५॥

६ कायोत्सर्ग-आवश्यक

स्तवनादौ तनुत्यागः श्रीमत्पञ्चगुरुस्मृतिः ।
व्युत्सर्गः स्याच्छ्रुतप्रोक्तोच्छ्वासावसरलक्षणः ॥२६॥

स्तवन, वन्दना आदिके समय श्री श्रीमत्पञ्च परम गुरुओंका स्मरण करते हुए शरीरका श्रुत-कथित नियत उच्छ्वास काल प्रमाण त्याग करना, अर्थात् शरीरको सर्व क्रिया बन्द कर देना कायोत्सर्ग नामका आवश्यक है ॥२६॥

भावार्थ—एक कायोत्सर्गका काल २७ श्वासोच्छ्वास-प्रमाण कहा गया है। वन्दना, स्तुति, सामायिक आदि आवश्यक करते समय २७ श्वासोच्छ्वासप्रमाण काल तक निर्व्यापार रूपसे मौनपूर्वक अवस्थित रहनेको या निराकुल भावसे नौ वार णमोकारमन्त्रके जाप करनेको कायोत्सर्ग कहते है।

अब शेष रहे हुए सात गुणोंका वर्णन करते हैं।

१ केशलुंचगुण

कूर्चश्मश्रुकचोल्लुञ्चो लुञ्चनं स्यादमी यतः।
परीषहजयाऽदैन्यवैराग्यासङ्गसंयमाः ॥२७॥
तच्चतुस्त्रिद्विमासेषु सोपवासे विधीयते।
जघन्यं मध्यमं ज्येष्ठ सप्रतिक्रमणे दिने ॥२८॥

शिर और दाढ़ीके वालोंके लोंचनेको, अर्थात् हाथोंसे उखाड़नेको केशलुंच कहते है। इसके करनेसे परीषहजय, अदीनता, वैराग्य, असंगता और संयमकी प्राप्ति होती है। जघन्य केशलुंच चार मासमें, मध्यम केशलुंच तीन मासमें और उत्कृष्ट केशलुंच दो मासमें प्रतिक्रमण-सहित उपवासके दिन किया जाता है ॥२७-२८॥

२ आचेलक्यगुण

वल्कलाजिनवस्त्राद्यैरङ्गासंवरणं वरम्।
आचेलक्यमलङ्कारानङ्गसङ्गविवर्जितम् ॥२९॥

वल्कल (वृक्षोंकी छाल), चर्म और वस्त्रादिसे अंगका नहीं

ढाकना और अलंकार व काम-संगमसे रहित होना सो परम अचेल-कता (नग्नता) गुण है ॥२९॥

३ अस्नानगुण

संयमद्वयरक्षार्थं स्नानादेर्वर्जनं मुनेः ।
जल्लस्वेदमलालिप्तगात्रस्यास्नानता स्मृता ॥३०॥

शरीरके मल-मूत्र, प्रस्वेद, कफ आदिसे लिप्त होने पर भी इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमकी रक्षाके लिए स्नान आदिका त्याग करना सो मुनिका अस्नानगुण माना गया है ॥३०॥

४ भू-शयनगुण

प्रसन्नप्रासुकाऽनात्मसंस्कृतेलाशिलादिषु ।
एकपार्श्वेन कोदण्ड-दण्डशय्या महीशयः ॥३१॥

स्वच्छ, प्रासुक, अचेतन और संस्कृत पृथ्वी तल या शिलातल आदि पर एक पार्श्वसे बाण या दण्डके समान सीधे सोनेको भूमि-शयनगुण कहते हैं ॥३१॥

५ स्थितिभोजनगुण

स्वपात्रदातृशुद्धोर्व्यां स्थित्वा समपदद्वयम् ।
निरालम्बं करद्वन्द्वभोजनं स्थितिभोजनम् ॥३२॥

अपनी पीछी द्वारा या दाताके द्वारा शुद्ध की गई पृथ्वी पर समान दोनों पैर रखकर व निरालम्बन खड़े होकर अपने दोनों हाथोंसे भोजन करना सो स्थितिभोजनगुण है ॥३२॥

६ अदन्तधावनगुण

दशनाघर्षणं पाषाणाङ्गुलीत्वङ्नखादिभिः ।
स्याद्दन्ताकर्षणं भोगदेहवैराग्यमन्दिरम् ॥३३॥

पाषाण, अंगुली, छाल और नख आदिके द्वारा दाँतका नहीं घिसना सो भोग और देहसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए मन्दिर स्वरूप दन्ताकर्षण नामका गुण है ॥३३॥

७ एकभक्त गुण

उदयास्तोभयं त्यक्त्वा त्रिनाडीर्भोजनं सकृत् ।
एक-द्वि-त्रिमुहुर्त्तं स्यादेकभक्तं दिने मुनेः ॥३४॥

सूर्यके उदयकाल और अस्तकाल इन दोनों समय तीन तीन नाडी प्रमाण काल छोड़कर दिनमें एकबार भोजन करना सो एक-भक्त नामका गुण है ॥३४॥

भावार्थ—इस एक भक्तकी प्राप्तिके लिए जो गोचरी की जाती है उसका काल एक, दो और तीन मुहूर्त्त है । अर्थात् उत्कृष्ट गोचरी का काल एक मुहूर्त्त, मध्यम गोचरीका काल दो मुहूर्त्त और जघन्य गोचरीका काल तीन मुहूर्त्त है ।

ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुस्तापसः संयतो व्रती ।
तपस्वी संयमी योगी वर्णी साधुश्च पातु नः ॥३५॥

जो पुरुष इन उपर्युक्त अट्ठाईस मूल गुणोंसे संयुक्त हैं, सकल संयमके धारक है, उन्हें ऋषि, यति, मुनि, भिक्षु, तापस, संयत, व्रती, तपस्वी, योगी, वर्णी, साधु और अनगार आदि नामोंसे पुकारते हैं । ऐसे साधु हमारी रक्षा करें ॥३५॥

साधुओंकी कुछ विशेष संज्ञाएँ

जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना ।
साधयत्यात्मकल्याणं स जितेन्द्रिय उच्यते ॥३६॥

जो पुरुष सर्व इन्द्रियोंको जीतकर अपने आत्माके द्वारा अपने आपको जानता है और निरन्तर आत्म-कल्याणकी सिद्धि करता है, वह 'जितेन्द्रिय' कहलाता है ॥३६॥

यो हताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे ।
यः सर्व-सङ्ग-सन्त्यक्तः स नग्नः परिकीर्तितः ॥३७॥

जिसने अपनी आशाओंका नाश कर दिया है और जिसकी सब आशाएँ शान्त हो गई हैं, वह 'आशाम्बर' या 'दिगम्बर' कहलाता है। जो सर्व परिग्रहसे रहित है, वह 'नग्न' कहलाता है ॥३७॥

रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः ।
मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः ॥३८॥

क्लेश समुदायके रेषण (निष्कासन) करनेसे मनीषी पुरुषोंने उसे 'ऋषि' कहा है। आत्म-विद्याओंके विषयमें माननीय होनेसे 'मुनि' कहलाता है ॥३८॥

यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् ।
योऽनीहो देहगेहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः ॥३९॥

जो पापरूपी पाशके नाश करनेके लिए यत्न करता है, वह 'यति' कहलाता है। जो शरीररूपी घरमें भी निरीह (इच्छा-रहित) है, वह 'अनगार' कहलाता है ॥३९॥

आत्माऽशुद्धिकरैर्यस्य न सङ्गः कर्मदुर्जनैः ।
स पुमान् शुचिराख्यातो नाम्बुसम्प्लुतमस्तकः ॥४०॥

जिसके आत्माको अशुद्ध करनेवाले कर्मरूपी दुर्जनोंका संग नहीं है वह 'शुचि' कहा गया है, जलसे मस्तकको खूब धोनेवाला शुचि नहीं कहलाता ॥४०॥

धर्मकर्मफलेऽनीहो निवृत्तो धर्मकर्मणः ।
तं निर्ममुशन्तीह केवलात्मपरिच्छिदम् ॥४१॥

जो धर्म और कर्मके फलमें इच्छा-रहित है, और धर्म-कर्मके फलसे निवृत्त हो चुका है ऐसे केवल आत्मज्ञानवानको 'निर्मम' कहते हैं ॥४१॥

यः कर्मद्वितयातीतस्तं मुमुक्षुं प्रचक्षते ।
पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्ध एव सः ॥४२॥

जो पुण्य और पाप इन दोनों प्रकारके कर्मोंसे रहित है वह 'मुमुक्ष' कहलाता है । जो लोहेके (पापके) अथवा सोनेके (पुण्यके) पाशोंसे बँधा है, वह 'बद्ध' ही है ॥४२॥

निर्ममो निरहङ्कारो निर्माणमदमत्सरः ।
निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः ॥४३॥

जो ममता रहित है, अहंकार-रहित है, मान मद और मत्सर भावसे भी रहित है और निन्दा व स्तुतिमें सम-बुद्धि रहता है, वह प्रशंसनीय व्रतका धारक 'समधी' कहलाता है ॥४३॥

योऽवगम्य यथाम्नाय्य तत्त्वं तत्त्वैकभावनः ।
वाचंयमः स विज्ञेयो न मौनी पशुवन्नरः ॥४४॥

जो आगमानुसार तत्त्वको जानकर निरन्तर एक मात्र तत्त्वाभ्यासमें ही अपनी भावनाको रखता है, उसे 'वाचंयम' जानना चाहिए। किन्तु पशुके समान मौनी मनुष्य वाचंयम नहीं कहलाता ॥४४॥

श्रुते व्रते प्रसंख्याने संयमे नियमे यमे ।
यस्योच्चैः सर्वदा चेतः सोऽनूचानः प्रकीर्तितः ॥४५॥

जिस मनुष्यका चित्त श्रुतमें, व्रतमें, प्रत्याख्यानमें, संयममें,

नियममें और यममें सर्वदा उच्च रहता है, वह 'अनूचान' कहा गया है ॥४५॥

योऽक्षस्तेनेष्वविश्वस्तः शाश्वते पथि तिष्ठतः ।
समस्तसत्त्वविश्वास्यः सोऽनाश्वानिह गीयते ॥४६॥

जो इन्द्रिय रूपी चोरोंमें विश्वास नहीं करता, सदा शाश्वत पथ मोक्षमार्गमें विद्यमान है और समस्त प्राणियोंके विश्वासका पात्र है, वह इस संसारमें 'अनाश्वान्' कहा जाता है ॥४६॥

तत्त्वे पुमान् मनः पुंसि स तुष्यत्तकदम्बकम् ।
यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः ॥४७॥

जिस पुरुषका मन और इन्द्रिय-समूह तत्त्वाभ्यासमें और परम पुरुषकी प्राप्तिमें युक्त है, वह 'योगी' है किन्तु जो पर वस्तुकी इच्छासे पीड़ित है, वह योगी नहीं कहला सकता ॥४७॥

कामः क्रोधो मदो माया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम् ।
येनेदं साधितं स स्यात्कृती पञ्चाग्निसाधकः ॥४८॥

जिस पुरुषने काम, क्रोध, मान, माया और लोभ इन पाँच प्रकारकी अग्नियोंको साध लिया है अर्थात् अपने वशमें करके शान्त कर दिया है, वह कृती 'पञ्चाग्निसाधक' कहलाता है ॥४८॥

ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः ।
सम्यगत्र वशन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः ॥४९॥

ज्ञानको ब्रह्म कहते हैं, दयाको ब्रह्म कहते हैं और काय-विकारके जीतनेको भी ब्रह्म कहते हैं, अतएव ज्ञान, दया और काम-विजयमें अच्छी तरह बसनेवाला मनुष्य 'ब्रह्मचारी' कह-लाता है ॥४९॥

क्षान्तियोषिति यः सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः ।
स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोमर्कटसाधकः ॥५०॥

जो पुरुष क्षमारूपी स्त्रीमें आसक्त है, जिसे सम्यग्ज्ञानरूपी अतिथि प्यारा है, वह मनरूपी बन्दरको वशमें करनेवाला निश्चयसे सच्चा गृहस्थ है ॥५०॥

ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ॥५१॥

जिसने नगर सम्बन्धी सभी बाह्य और आभ्यन्तर अर्थोंको छोड़कर संयमी बन वनवास अंगीकार किया है, उसे 'वानप्रस्थ' जानना चाहिए। किन्तु संयम-हीन होकर वनमें रहनेवाला कुटुम्बवान् पुरुष वानप्रस्थ नहीं हो सकता ॥५१॥

संसाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञानासिना कृतः ।
तं शिखाच्छेदिनं प्राहुर्नतु मुण्डितमस्तकम् ॥५२॥

जिस पुरुषने ज्ञानरूपी तलवारके द्वारा संसाररूपी अग्निकी शिखाका छेद कर दिया है, निश्चयसे उसे ही 'मुण्डितमस्तक' कहते हैं ॥५२॥

कर्मात्मनोर्विवेक्ता यः क्षीर-नीरसमानयोः ।
भवेत्परमहंसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षकः ॥५३॥

जो पुरुष दूध और पानीके समान एकमेक होकर मिले हुए कर्म और आत्माका विवेक्ता अर्थात् पृथक् पृथक् करने वाला है वह 'परमहंस' कहलाता है। किन्तु खड्गके समान सर्वभक्षी पुरुष परमहंस नहीं कहला सकता ॥५३॥

ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च ।
नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥५४॥

जिसका मन ज्ञानसे, शरीर चारित्रसे और इन्द्रियाँ नियमोंसे प्रदीप्त हैं, वह 'तपस्वी' है। किन्तु किसी अमुक वेषका धारक तपस्वी नहीं कहलाता ॥५४॥

पञ्चेन्द्रियप्रवृत्ताख्यास्तिथयः पञ्च कीर्तिताः ।
संसारेऽश्रेयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥५५॥

पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्त होनेके कारण तन्नामवाली पाँच तिथियाँ कही गई हैं। वे संसारमें अकल्याणकी ही कारण हैं, जो इस प्रकारकी तिथियोंसे मुक्त हो जाता है, वह 'अतिथि' कहलाता है ॥५५॥

अद्रोहः सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने ।
स पुमान् दीक्षितात्मा स्यान्न त्वजादियमाशयः ॥५६॥

जिसका सर्व प्राणियोंमें द्रोह-रहित यज्ञ दिन प्रति दिन चालू रहता है, वह पुरुष 'दीक्षितात्मा' कहलाता है। किन्तु अजा (बकरा) आदिके घात करनेके लिए यमके समान अभिप्राय वाला पुरुष 'दीक्षित' या 'दीक्षीतात्मा' नहीं कहलाता ॥५६॥

दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी सर्वसत्त्वहिताशयः ।
स श्रोत्रियो भवेत्सत्यं न तु यो बाह्यशौचवान् ॥५७॥

जो दुष्कर्मरूपी दुर्जनोंके स्पर्शसे रहित है, जिसका हृदय सर्व-प्राणियोंका हितैषी है, वही सच्चा 'श्रोत्रिय' है। जो केवल बाहरी शौचवान् है, वह 'श्रोत्रिय' नहीं कहला सकता ॥५७॥

आत्माग्नौ दयामन्त्रैः सम्यक्कर्मसमिच्चयम् ।
यो जुहोति स होता स्यान्न बाह्याग्निसमेधकः ॥५८॥

जो आत्मरूपी अग्निमें दयारूपी मंत्रोंके द्वारा कर्मरूपी समिधा के समूहको सम्यक् प्रकारसे हवन करता है, वह 'होता' कहलाता है, बाहरी अग्निमें हवन करनेवाला 'होता' नहीं है ॥५८॥

भावपुष्पैर्यजेद्देवं व्रतपुष्पैर्वपुर्गृहम् ।
क्षमापुष्पैर्मनोवह्निं यः स यष्टा सतां मतः ॥५९॥

जो भावरूप पुष्पोंके द्वारा देवकी पूजा करे, व्रतरूपी पुष्पोंके द्वारा देहरूप गृहकी पूजा करे, और क्षमारूपी पुष्पोंके द्वारा मन-रूपी वह्निकी पूजा करे, वह पुरुष सज्जनोंके द्वारा 'यष्टा' माना गया है ॥५९॥

षोडशानामुदारात्मा यः प्रभुर्भावनर्त्विजाम् ।
सोऽध्वर्युरिह बोद्धव्यः शिवशर्माध्वरोद्धुरः ॥६०॥

जो उदार आत्मा दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावना-रूपी ऋत्विजों (यज्ञ करनेवालों) का प्रभु है, उसे ही यहाँ शिवसुखरूप यज्ञका अग्रणी 'अध्वर्यु' जानना चाहिए ॥६०॥

विवेकं वेदयेदुच्चैर्यः शरीर-शरीरिणोः ।
स प्रीत्यै विदुषां वेदो नाखिलक्षयकारणम् ॥६१॥

जो वेद (ज्ञान) शरीर और शरीरी (आत्मा) के भेदको भलीभाँति ज्ञान कराता है, वही वेद विद्वानोंकी प्रीतिके लिए हो सकता है। अखिल हवन सामग्री और प्राणियोंके क्षयका कारण वेद विद्वानोंकी प्रीतिके लिए नहीं हो सकता ॥६१॥

जातिर्जरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणम् ।
एषा त्रयी यतस्त्रय्याः क्षीयते सा त्रयी मता ॥६२॥

जन्म, जरा और मरण यह त्रयी पुरुषोंके संसार बढ़ानेका कारण है। यह त्रयी (तीनका समूह) जिस रत्नत्रयरूपी त्रयीसे क्षीण होती है, वही सच्ची 'त्रयी' मानी गई है ॥६२॥

अहिंसः सद्व्रतो ज्ञानी निरीहो निष्परिग्रहः ।
यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु जातिमन्दान्धलः ॥६३॥

जो हिंसा-रहित है, उत्तम व्रतका धारक है, ज्ञानी है, इच्छा-रहित है, और परिग्रह-रहित है, वही सच्चा 'ब्राह्मण' है। किन्तु जो जातिके मदसे अन्धा है, वह ब्राह्मण नहीं है। ॥६३॥

सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसम्भवः ।
न हि शस्याय जायेत शुद्धा भूर्बीजवर्जिता ॥६४॥

जिससे सच्चे धर्मकी उत्पत्ति हो, वही जाति परलोकमें कल्याण-कारिणी है, क्योंकि, बीज-रहित शुद्ध भी पृथ्वी धान्यको उत्पन्न नहीं कर सकती ॥६४॥

स शैवो यः शिवज्ञात्मा स बौद्धो योऽन्तरात्मभृत् ।
स सांख्यो यः प्रसंख्यावान् स द्विजो यो न जन्मवान् ॥६५॥

जो शिव (कल्याण या मोक्ष) को जानने वाला आत्मा है, वह 'शैव' है, जो अन्तरात्माका ज्ञायक है वह 'बौद्ध' है, जो प्रत्याख्यानका धारक है, वह 'सांख्य' है, और जो पुनः जन्म नहीं धारण करेगा, वह सच्चा 'द्विज' है।

मुनियोंके धर्मका विशेष वर्णन जाननेके लिए मूलाचार, आचारसार, यशस्तिलक उत्तरार्ध, चारित्रसार और अनगार-धर्मामृत देखना चाहिए।

इस प्रकार मुनिधर्मका वर्णन करनेवाला पाँचवा अध्याय समाप्त हुआ।

• षष्ठ अध्याय : संक्षिप्त सार •

इस अध्यायमें जीवोंके क्रमिक विकाससे होनेवाले परिणामोंका वर्णन किया गया है। जैनाचार्योंने अध्यात्म दृष्टिसे संसारके समस्त प्राणियोंका चौदह भेदोंमें वर्गीकरण किया है, जिन्हें कि गुणस्थान कहते है। पहले अध्यायमें जिन बहिरात्माओंका वर्णन कर आये हैं, वे सबसे नीची भूमिकाके प्राणी हैं और जिन्हें परमात्माके रूपमें वर्णन कर आये हैं, वे सबसे ऊँची भूमिकाके प्राणी है। मध्यवर्ती भूमिकाके स्थान अन्तरात्माके उत्थान और पतनके निमित्तसे होते है। छोटे छोटे प्राणियोंसे लेकर समस्त असमनस्क तिर्यंच तथा मनुष्य, देव और नारकियोंका बहुभाग प्रथम गुणस्थानवर्ती ही समझना चाहिए। ये जीव तब तक इसी वर्गमें पड़े रहते है, जब तक कि वे अपने पुरुषार्थको जागृत कर और विवेकको उत्पन्न कर सम्यग्दृष्टि नहीं बन जाते है। सम्यग्दृष्टि बनने पर जब तक वे देशचारित्रको धारण नहीं करते, तब तक चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती कहलाते है। देशचारित्रके धारण करने पर वे पंचम गुणस्थानवर्त्ती और सकल-चारित्रके धारण करने पर वे छठे गुणस्थानवर्त्ती कहलाते है। इन तीनों गुणस्थानवाले जीव परिणामोंकी विशुद्धिसे च्युत होनेपर दूसरे तीसरे गुणस्थानको प्राप्त होते है और परिणामोंकी विशुद्धि और चारित्रकी वृद्धि होनेपर सातवेंसे लेकर ऊपरके गुणस्थानोंको प्राप्त होते है। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि पहले, चौथे, पाँचवें और तेरहवें गुणस्थानका काल ही अधिक है, शेष गुणस्थानोंका काल तो अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है।

षष्ठ अध्याय

अब गुणस्थानोंका वर्णन करते हैं। आत्मगुणोंके क्रमिक विकास वाले स्थानोंको 'गुणस्थान' कहते हैं। संसारके समस्त प्राणी हीनाधिक गुण वाले हैं, उनकी चित्तवृत्ति या मनःशुद्धि विभिन्न प्रकारकी होती है, उसका पृथक् पृथक् विभाग कर कमशः विकसित गुण वाले जीवोंके जो पद होते हैं, उन्हें गुणस्थान कहते हैं, गुण-स्थानके चौदह भेद हैं। जो इस प्रकार हैं—

गुणस्थानोंके नाम

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतो देशसंयतः।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वानिवृत्तिकरणौ तथा ॥१॥
सूक्ष्मोपशान्तसंक्षीणकषाया योग्ययोगिनौ।
गुणस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश ॥२॥

१ मिथ्यादृष्टि, २ सासादनसम्यग्दृष्टि, ३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४ असंयतसम्यग्दृष्टि, ५ देशसंयत, ६ प्रमत्तसंयत, ७ अप्रमत्तसंयत, ८ अपूर्वकरणसंयत, ९ अनिवृत्तिकरणसंयत, १० सूक्ष्मसाम्परायसंयत, ११ उपशान्तकषायसंयत, १२ क्षीणकषायसंयत, १३ सयोगिकेवली और १४ अयोगिकेवली। इस प्रकार गुणस्थानके ये चौदह भेद होते हैं ॥१–२॥

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

तत्त्वानि जिनदृष्टानि यस्तथ्यानि न रोचते।
मिथ्यात्वस्योदये जीवो मिथ्यादृष्टिरसौ मतः ॥३॥

जिस जीवको मिथ्यात्व कर्मके उदय आने पर जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा देखे गये सच्चे तत्त्व नहीं रुचते है, वह प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि जीव माना गया है ॥३॥

भावार्थ—जिस कर्मके उदय होनेपर आत्माका सम्यग्दर्शनगुण प्रकट नहीं होने पाता, उसे मिथ्यात्वकर्म कहते है। प्रथम गुणस्थान में इसका नियमसे उदय पाया जाता है, इसलिए इस गुणस्थान वाले समस्त जीव मिथ्यादृष्टि कहलाते है। मिथ्यादृष्टि जीवोंको अपने हेय-उपादेयका कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। वे सदा विषयोंमें मस्त, अज्ञानमें रत और विपरीत दृष्टि वाले होते हैं। प्रथम अध्यायमें जो बहिरात्मा बतलाये गये है, वे सब मिथ्यादृष्टि और प्रथम गुणस्थानवर्ती ही जानना चाहिए।

२ सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

संयोजनोदये भ्रष्टो जीवः प्रथमदृष्टितः।
अन्तरानात्तमिथ्यात्वो वर्ण्यते श्रस्तदर्शनः ॥४॥

अनन्तानुबन्धी कषायके उदय होने पर प्रथमोपशम सम्यग्-दर्शनसे भ्रष्ट हुआ, और जिसने अभी मिथ्यात्वको नहीं प्राप्त किया है, ऐसा जीव सासादन-सम्यग्दृष्टि कहलाता है ॥४॥

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव जब मिथ्यात्वको छोड़कर सम्य-ग्दर्शनको प्राप्त करता है और अविरत सम्यग्दृष्टि बनता है तब वह प्रथम गुणस्थानसे एकदम ऊँचा उठकर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती बन जाता है। जब चौथे गुणस्थानका काल समाप्त होनेमें सिर्फ छह आवलीप्रमाण काल शेष रह जाता है और यदि उसी समय अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभमेंसे किसी एक कषायका

उदय आ जावे, तो वह सम्यग्दर्शनसे गिर जाता है, इस गिरनेके प्रथम समयसे लेकर और मिथ्यात्वरूपी भूमिपर पहुँचनेके पूर्वकाल तक मध्यवर्ती जो अवस्था है वही दूसरा गुणस्थान जानना चाहिए। सासादन नाम विराधना का है, सम्यग्दर्शनकी विराधनाके साथ जो जीव वर्तमान होता है, उसे सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इस दूसरे गुणस्थानमें जीव अधिकसे अधिक छह आवली काल तक रहता है, उसके पश्चात् वह नियमसे मिथ्यादृष्टि हो जाता है। कालके सबसे सूक्ष्म अंशको समय कहते हैं और असंख्यात समयकी एक आवली होती है। यह एक आवली प्रमाण काल भी एक मिनटसे बहुत छोटा होता है।

३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

सम्यग्मिथ्यारुचिर्मिश्रः सम्यग्मिथ्यात्वपाकतः।
सुदुष्करः पृथग्भावो दधिमिश्रगुडोपमः ॥५॥

सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके उदयसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनोंके मिश्र रूप रुचि होती है, इसको पृथक् पृथक् करना अत्यन्त कठिन है, जिस प्रकार कि गुडसे मिश्रित दहीका पृथक्करण करना ॥५॥

भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्मका एक भेद सम्यग्मिथ्यात्वकर्म है। जब चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती जीवके सम्यग्मिथ्यात्व कर्मका उदय आता है, तब वह चौथे गुणस्थानसे च्युत होकर तीसरे गुणस्थानमें आ जाता है और सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहलाने लगता है। इस गुणस्थानको तीसरा कहनेका मतलब यह है कि यह दूसरे सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे उत्तम परिणामोंवाला है और चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे हीन परिणामोंवाला है। जैसे दही और

गुड़के मिला देने पर उनका एक खटमिट्ठा स्वाद बन जाता है, जिसे न गुड़रूप ही कह सकते है और न दहीरूप ही। इसी प्रकार इस गुणस्थानमें जिस जातिके परिणाम होते है, उन्हें न सम्यग्-दर्शनरूप ही कह सकते है, और न मिथ्यादर्शन रूप ही। किन्तु दोनोंके सम्मिश्रणसे एक तीसरी ही जातिके मिश्र परिणाम हो जाते है, इसीलिए इसका नाम मिश्र या सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुण-स्थान है।

४ असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान

पाकाच्चारित्रमोहस्य व्यस्तप्राण्यक्षसंयमः।
त्रिष्वेकतमसम्यक्त्वः सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥६॥

इस गुणस्थानका जीव चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे न इन्द्रिय संयम ही धारण कर पाता है और न प्राणिसंयम ही, इस-लिए वह असंयत कहलाता है। तथा दर्शन मोहनीय कर्मके अभाव हो जानेसे पूर्वोक्त तीन प्रकारके सम्यग्दर्शनमें से किसी एक सम्यग्दर्शनको धारण करता है, इसलिए यह असंयतसम्यग्दृष्टि कहलाता है ॥६॥

भावार्थ—इस गुणस्थानका जीव सम्यग्दृष्टि होने के कारण तत्त्वार्थका दृढ श्रद्धानी होता है, पूर्वोक्त सप्त भयसे मुक्त रहता है, विवेकवान् होता है। अन्तरंगमें इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयोंसे ग्लानि रखता है, सांसारिक बन्धनोंसे छूटना चाहता है, किन्तु चारित्र मोहनीय कर्मके उदय होनेसे लेशमात्र भी संयम नहीं धारण कर पाता है, इसलिए यह न इन्द्रिय-विषयोंसे विरत होता है और न त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसासे ही। किन्तु एकमात्र जिनोक्त आज्ञा

का और तत्त्वोंका दृढ़ श्रद्धान इसके पाया जाता है। प्रथम अध्यायमें जो जघन्य अन्तरात्माका वर्णन किया गया है वह यही चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती असंयतसम्यग्दृष्टि जीव है। यहाँ तक के चारों गुणस्थान चारों गतियोंके जीवोंके होते हैं।

५ देशसंयत गुणस्थान

यस्त्राता त्रसकायानां हिंसिता स्थावराङ्गिनाम्।
अपक्वाष्टकषायोऽसौ संयतासंयतो मतः ॥७॥

जो त्रसकायिक जीवोंका रक्षक है, किन्तु स्थावर प्राणियोंका हिंसक है और जिसकी प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन ये आठ कषाय अपक्व हैं, दूर नहीं हुई हैं, वह जीव संयतासंयत माना गया है ॥७॥

भावार्थ—जिस जीवने सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके साथ-साथ श्रावकके व्रतोंको धारण कर लिया है उसके यह पाँचवाँ गुणस्थान होता है। चौथे अध्यायमें श्रावक के जिन १२ व्रतोंका और ११ प्रतिमाओंका वर्णन कर आये हैं, वह सब इस पंचम गुणस्थानका ही जानना चाहिए। इस गुणस्थानका जीव त्रसजीवोंकी हिंसाका त्यागी होता है, इसलिए तो वह 'संयत' कहलाता है, किन्तु गृहस्थाश्रममें स्थावर जीवोंकी हिंसा बच नहीं सकती, खाने-पीने आदिमें अनिवार्य स्थावरहिंसा होती है, अतः वह स्थावरहिंसाकी अपेक्षा 'असंयत' है, और इस प्रकार विभिन्न दो दृष्टियोंकी अपेक्षा एक साथ 'संयतासंयत' कहलाता है। इसीके दूसरे नाम 'देशसंयत' 'देशविरत' 'उपासक' 'श्रावक' आदि हैं। मनुष्य और तिर्यंच इन दो गतियोंके जीव ही इस गुणस्थानके धारक हो सकते हैं, देव और

नारकियोंके इसका होना असंभव है, उनके आदिके चार ही गुण-
स्थान होते हैं, आगेके नहीं । ११ प्रतिमाओंको मनुष्य ही धारण
कर सकता है, तिर्यञ्च नहीं ।

६ प्रमत्तसंयत गुणस्थान

न यस्य प्रतिपद्यन्ते कषाया द्वादशोदयम् ।
व्यक्ताव्यक्तप्रमादोऽसौ प्रमत्तः संयतः स्मृतः ॥८॥

जिस पुरुषके अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषाय उदयको
प्राप्त नहीं होते हैं, तथा जिसके व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद पाया
जाता है, वह प्रमत्तसंयत माना गया है ॥८॥

भावार्थ—मुनिव्रत या सकलसंयमके धारण करनेवाले जीवके
यह छठा गुणस्थान होता है । ऊपर पाँचवें अध्यायमें जिस मुनिव्रत
का वर्णन किया गया है, वह सब इसी गुणस्थानका वर्णन जानना
चाहिए । भेद केवल इतना ही है, कि जब वह साधु आत्मोपयोग
में अनुद्यत या असावधान रहता है, तब वह प्रमत्तसंयत या षष्ठ
गुणस्थानवर्ती माना जाता है और जब वह आत्मोपयोगमें उद्यत,
या तल्लीन रहता है, तब वह अप्रमत्तसंयत या सप्तम गुणस्थान-
वर्त्ती माना जाता है । छठे और सातवें गुणस्थानका काल अन्त-
र्मुहूर्त्त मात्र माना गया है, सो जिस प्रकार मनुष्योंके नेत्रोंकी पलकें
जागृत अवस्थामें खुलती और बन्द होती रहती हैं, इसी प्रकार
साधु भी छठे और सातवें गुणस्थानमें आता जाता रहता है, यहाँ
तक कि चलते-फिरते खाते-पीते भी उसके इन दोनों गुणस्थानोंका
परिवर्तन होता रहता है, एक मुहूर्तकालमें भी वह सैकड़ों बार
प्रमत्तसंयतसे अप्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयतसे प्रमत्तसंयत हो

जाता है। यहाँ प्रमादका क्या अर्थ है यह आगेके श्लोकसे प्रकट करते हैं—

संज्वलननोकषायाणामुदये सत्यनुद्यमः।
धर्मे शुद्ध्यष्टके वृत्ते प्रमादो गदितो यतेः ॥९॥

संज्वलन-क्रोध, मान, माया, लोभ और नव नोकषायोंके उदय होनेपर जो दश प्रकारके धर्ममें, आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें और तेरह प्रकारके चारित्रमें अनुद्यम या उत्साह होता है, वही साधुका प्रमाद कहा गया है ॥९॥

भावार्थ—साधुके उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश प्रकारका धर्म होता है। मनःशुद्धि, वाक्‌शुद्धि, कायशुद्धि, भैक्ष्यशुद्धि, ईर्य्यापथ-शुद्धि, संस्तरशुद्धि, उत्सर्गशुद्धि और विनयशुद्धि ये आठ प्रकारकी शुद्धियाँ होती हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह प्रकारका चारित्र होता है। जब साधुके संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभका या हास्यादि नौ नोकषायोंका तीव्र उदय रहता है, तब उक्त धर्म, शुद्धि या चारित्रको धारण करते हुए भी उनमें अनुत्साह रहता है, और इस कारण वह प्रमत्त कहलाता है। किन्तु त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसासे वह सर्वथा विरत रहता है इसलिए वह संयत कहलाता है, इस प्रकार प्रमत्त होकरके भी जो संयत होता है, उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं और यही इस छठे गुणस्थानका स्वरूप है। प्रमादके परभागममें अन्य प्रकारसे १५ भेद बताये हैं, चार कषाय, चार विकथाएँ (स्त्री, राज, भोजन और देशकथा), पाँच इन्द्रियाँ, प्रणय (स्नेह) और निद्रा। जब

साधु संयम पालन करते हुए भी इन पन्द्रह भेदोंमेंसे किसी एकमें वर्तमान होता है, तब वह प्रमत्तसंयत है।

७ अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

शमक्षयपराधीनः कर्मणामुद्यसंयमः।
निष्प्रमादोऽप्रमत्तोऽस्ति धर्म्यं ध्यानमधिष्ठितः ॥१०॥

संज्वलन और नोकषायोंके, अथवा चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमवाला, संयम धारण करनेमें उद्यमशील, धर्मध्यानको धारणकर उसमें संलग्न और प्रमाद-रहित साधु अप्रमत्तसंयत है ॥१०॥

भावार्थ—ऊपर प्रमत्तसंयत गुणस्थानके स्वरूपमें जिस प्रकार के प्रमादका वर्णन किया गया है उससे जो साधु रहित है, धर्म, शुद्धि और चारित्रके धारण करनेमें उद्यमशील या सोत्साही है, आत्मोपयोगमें निरत है, विकथादि प्रमादसे पराङ्मुख है और ध्यान-अवस्थाको प्राप्त कर निर्विकल्प समाधिमें लवलीन है, उसे अप्रमत्त-संयत कहते हैं। इस गुणस्थानका भी काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र ही है। इससे यदि वह परमविशुद्धिको प्राप्त कर लेवे तो ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ सकता है, अन्यथा पुनः छट्टे गुणस्थानमें आ जाता है और इस प्रकार वह इन दोनों गुणस्थानोंमें निरन्तर—अपनी आयुके अन्तिम क्षण तक परिवर्तन करता रहता है।

इस गुणस्थानके दो भेद हैं–१ स्वस्थान-अप्रमत्त और २ सातिशय अप्रमत्त। सातवेंसे छठेमें और छठेसे सातवें गुणस्थानमें परिवर्तन करना स्वस्थान-अप्रमत्तसंयतके होता है। किन्तु जो सातिशय अप्रमत्तसंयत है, वह मोहनीय कर्मके उपशम या क्षय करनेके लिए

तीन करणोंमेंसे प्रथम अधःप्रवृत्तकरणको प्रारम्भ करता है, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम तो आठवें और नवें गुणस्थानमें होते हैं।

८ अपूर्वकरणसंयत गुणस्थान

अपूर्वः करणो येषां भिन्नं क्षणमुपेयुषाम् ।
अभिन्नं सदृशोऽन्यो वा तेऽपूर्वकरणाः स्मृताः ॥११॥
क्षपयन्ति न ते कर्म शमयन्ति न किञ्चन ।
केवलं मोहनीयस्य शमन-क्षपणोद्यताः ॥१२॥

विभिन्न क्षणवर्त्ती जिन जीवोंके परिणाम अपूर्व हों, और एक समयवर्त्ती जीवोंके परिणाम सदृश भी हों और विसदृश भी हों, उन्हें अपूर्वकरण माना गया है। ये अपूर्वकरण परिणाम न तो किसी कर्मका क्षपण करते हैं और न उपशमन ही करते हैं; केवल मोहनीय कर्मके उपशमन और क्षपण करनेके लिए उद्यत होते हैं ॥११–१२॥

भावार्थ—यह गुणस्थान और इससे आगे बारहवें गुणस्थान तकके सब गुणस्थान ध्यानावस्थामें ही होते हैं। इन गुणस्थानोंका काल अत्यन्त अल्प है, फिर भी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है। जब कोई सातिशय अप्रमत्तसंयत मोहनीय कर्मका उपशम या क्षपण करनेके लिए उद्यत होकर अधःकरण परिणामोंको करके इस गुणस्थानमें प्रवेश करता है, तब उसके परिणाम प्रत्येक क्षणमें अपूर्व अपूर्व ही होते हैं, प्रत्येक समय उसकी विशुद्धि अनन्तगुणी होती जाती है। इस गुणस्थानके परिणाम इसके पहले कभी नहीं प्राप्त हुए थे, अतः उन्हें अपूर्व कहते हैं। इस गुणस्थानमें कई जीव यदि

एक साथ प्रवेश करें, तो उनमें एक समयवर्ती जीवोंमेंसे कितने ही जीवोंके परिणाम तो परस्पर समान रहेंगे, और कितने ही जीवोंके विभिन्न रहेंगे। परन्तु आगे आगेके समयोंमें सभीके परिणाम अपूर्व और विशुद्ध होंगे, इसीलिए इस गुणस्थानका नाम अपूर्व-करण है। इस गुणस्थानका कार्य मोहकर्मके उपशमन या क्षपणकी भूमिका तैयार कर देना है। यद्यपि इस गुणस्थानमें किसी भी कर्मका उपशमन और क्षपण नहीं होता है तथापि मोहकर्मके स्थितिखंडन, अनुभागखंडन आदि करनेकी भूमिका तैयार कर दी जाती है।

९ अनिवृत्तिकरण संयत गुणस्थान

ये संस्थानादिना भिन्नाः समानाः परिणामतः।
समानसमयावस्थास्ते भवन्त्यनिवृत्तयः ॥१३॥
क्षपयन्ति महामोहविद्विषं शमयन्ति ते।
विनिर्मलतरैर्भावैः स्थूलकोपादिवृत्तयः ॥१४॥

अन्तर्मुहूर्त्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे आदि, मध्य या अन्तके किसी एक समान समयमें अवस्थित अनेक जीव यद्यपि संस्थान-शरीर-आकार आदिसे भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं, तथापि वे सब परिणामोंकी अपेक्षा समान होते हैं, उनमें परस्पर निवृत्ति अर्थात् भेद या विषमता नहीं होती है, इसलिए वे अनिवृत्तिकरण कहलाते हैं। इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीवोंमेंसे कुछ जीव तो अत्यन्त निर्मल भावोंके द्वारा महामोहरूपी शत्रुका क्षय करते हैं, और कितने ही उसका उपशमन करते हैं ॥१३–१४॥

भावार्थ—अनिवृत्तिकरण गुणस्थानका जितना काल है, उतने

ही उसके परिणाम हैं इसलिए प्रत्येक समयमें एक ही परिणाम होता है। अतएव यहाँपर भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें सर्वथा विषमता और एकसमयवर्त्ती जीवोंके परिणामोंमें सर्वथा सदृशता या समानता ही होती है। इस गुणस्थानमें होने वाले परिणामोंके द्वारा आयुकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंकी गुणश्रेणि निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन और अनुभागखंडन होता है और मोहनीय कर्मकी बादरकृष्टि सूक्ष्मकृष्टि आदि अनेक कार्य होते हैं, जिनका विस्तृत और स्पष्ट वर्णन कसायपाहुड सुत्त या लब्धिसार क्षपणासारसे जानना चाहिए। संक्षेपमें यहाँ इतना ही जान लेना चाहिए कि इस गुणस्थानमें मोहरूपी महाशिलाके छोटे छोटे टुकड़े कर दिये जाते हैं।

१० सूक्ष्मसाम्परायसंयत गुणस्थान

लोभसंज्वलनः सूक्ष्मः शमं यत्र प्रपद्यते।
क्षयं वा संयतः सूक्ष्मः साम्परायः स कथ्यते ॥१५॥
कौसुम्भोऽन्तर्गतो रागो यथा वस्त्रेऽवतिष्ठते।
सूक्ष्मलोभगुणे लोभः शोध्यमानस्तथा तनुः ॥१६॥

इस गुणस्थानमें परिणामोंकी प्रकृष्ट विशुद्धिके द्वारा मोहकर्म का अवशिष्ट भेद लोभ कषाय अत्यन्त क्षीण कर दिया जाता है, जिसे कि सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। उस सूक्ष्म लोभका इस गुणस्थानमें या तो उपशमन किया जाता है अथवा क्षपण किया जाता है। जिस प्रकार धुले हुए कसूमी रंगके वस्त्रमें लालिमाकी सूक्ष्म आभा रह जाती है उसी प्रकार इस गुणस्थानके परिणामों

द्वारा लोभ कषाय क्षीण या शुद्ध होते होते अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें रह जाता है इसलिए इस गुणस्थानको सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। साम्पराय नाम लोभका है ॥१५-१६॥

विशेषार्थ—सातवें गुणस्थानके जिस सातिशय अप्रमत्त भाग से यह जीव ऊपरके गुणस्थानोंमें चढ़ता है वहींसे उनकी दो धाराएं हो जाती हैं—एक उपशम श्रेणीकी और दूसरी क्षपक श्रेणी की। श्रेणी पंक्ति या नसेनीको कहते हैं। मोहकर्मके क्षय करनेकी जिस जीवके योग्यता नहीं होती है, जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होता है, वह उपशम श्रेणी चढ़ता है। और जिसमें योग्यता होती है, जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है, वह क्षपक श्रेणी चढता है। आठवाँ, नवाँ, दशवाँ और ग्यारहवाँ ये चार गुणस्थान उपशम श्रेणीके हैं तथा आठवाँ, नवाँ, दशवाँ और बारहवाँ, ये चार गुणस्थान क्षपक श्रेणीके हैं। सो इन आठवें, नवें और दशवें गुणस्थानोंमें मोहकर्मके उपशान्त करने और क्षपण करनेके लिए परिणामोंकी दो धाराएँ साथ साथ बहती रहती हैं। जो आठवें गुणस्थानसे उपश्रेणी पर चढता है, वह अपनी उपशम धारामें ही प्रवाहित रहता है, और इस दशवें गुणस्थानमें आकर मोहकर्मको उपशान्त कर उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँच जाता है। किन्तु जो आठवें क्षपक श्रेणीपर चढ़ता है, वह आठवें, नवें और दशवें गुणस्थानमें मोहकर्मका क्षय करके ग्यारहवें गुणस्थानमें न जाकर एक दम बारहवें गुणस्थानमें चढ जाता है और क्षीणमोही वीतरागछद्मस्थ संज्ञाको प्राप्त करता है। इसलिए आठवें, नवें, दशवें गुणस्थानका वर्णन करते हुए ऊपर तीनों गुणस्थानोंके

स्वरूपमें मोहकर्मके उपशम करने या क्षय करनेका एक साथ वर्णन किया गया है।

११ उपशान्त मोह गुणस्थान

अधोमले यथा नीते कतकेनाम्भोऽस्ति निर्मलम्।
उपरिष्टात्तथा शान्तमोहो ध्यानेन मोहने ॥१७॥

गंदले जलमें कतकफल या फिटकरी आदिके डालनेपर उसका मलभाग जैसे नीचे बैठ जाता है और ऊपर निर्मल जल रह जाता है, उसी प्रकार उपशमश्रेणीरूपी परिणामोंके द्वारा शुक्लध्यानसे मोहनीय कर्म उपशान्त कर दिया जाता है जिससे कि परिणामोंमें एक दम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती है, उस समय उस साधुको शान्तमोह या उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ कहते हैं ॥१७॥

१२ क्षीणमोह गुणस्थान

तदेवाम्भो यथान्यत्र पात्रे न्यस्तं मलं विना।
प्रसन्नं मोहने क्षीणे क्षीणमोहस्तथा यतिः ॥१८॥

कतकफल आदिसे शुद्ध किया हुआ वही निर्मल जल यदि अन्य पात्रमें रख दिया जाय तो जैसी उसकी निर्मलता, प्रसन्नता या स्वच्छता दृष्टिगोचर होती है, इसी प्रकार क्षपकश्रेणी पर चढ़कर मोहकर्मके क्षय देनेपर साधुके परिणामोंमें परम निर्मलता और प्रसन्नता प्राप्त होती है, और इसीलिए इस गुणस्थानवाला जीव क्षीणमोहवीतराग संयत कहलाता है ॥१८॥

विशेषार्थ—क्षपक श्रेणीवाला जीव दशवेंसे एकदम बारहवें गुणस्थानमें चढ़ता है किन्तु उपशम श्रेणीवाला दशवेंसे ग्यारहवें

गुणस्थानमें चढता है। ग्यारहवें काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। जब ग्यारहवें गुणस्थानका समय पूरा हो जाता है, तब वह नियमसे नीचे गिर जाता है, क्योंकि उसके फिर नियमसे मोहकर्मका उदय आ जाता है और इसी कारण वह ऊपर चढनेमें असमर्थ रहता है। नीचे गिरता हुआ वह छठे सातवें तक आ जाता है। वहाँ यदि वह पुनः प्रयत्न करे और क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनकर क्षपक श्रेणीपर चढ़े, तो वह दशवें गुणस्थानसे एक दम बारहवेंमें पहुँचकर क्षीण-मोही वीतराग बन जायगा और एक अन्तर्मुहूर्त तक उस वीत-रागताका अनुभव कर, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन अवशिष्ट घातियाकर्मोंका क्षयकर तेरहवें गुणस्थानमें पहुँचता है और अरहंत सर्वज्ञ आदि संज्ञाओंको धारण करता है।

१३ सयोगिकेवली गुणस्थान

घातिकर्मक्षये लब्ध्वा नवकेवललब्धयः।
येनासौ विश्वतत्त्वज्ञः सयोगः केवली विभुः ॥१९॥

दशवें गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका और बारहवें गुणस्थानमें शेप तीन घातिया कर्मोंका नाश करने पर नवकेवललब्धियां प्राप्त होती हैं, जिनसे वह साधु विश्वतत्त्वज्ञ सयोगिकेवली प्रभु बन जाता है ॥१९॥

भावार्थ—नवकेवललब्धियाँ ये हैं—अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, क्षायिक दान, क्षायिकलाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक चारित्र। इनमें से ज्ञानावरणीय कर्मके क्षय हो जानेसे अनन्त ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्मके क्षयसे अनन्त दर्शन, मोहनीय कर्मके क्षयसे अनन्तसुख और क्षायिक

चारित्र तथा अन्तरायकर्मके क्षयसे अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और अनन्तवीर्यकी प्राप्ति होती है। इससे वह सर्वज्ञ प्रभु विना आहारके भी जीवन-पर्यन्त जीते हुए अनन्त सुखका अनुभव करते हैं और समवसरणादि परम विभूतिके साथ विहार करते हुए भव्य जीवोंको धर्मका—मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। इस गुणस्थानका जघन्य अन्तर्मुहूर्त मात्र है और उत्कृष्ट काल आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त्त कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है। इतने लम्बे समय तक भी बिना किसी बाह्य आहारादिके जो उनकी अक्षुण्ण सामर्थ्य बनी रहती है वह सब इन नौकेवललब्धियोंका ही प्रभाव है।

१४ अयोगिकेवली गुणस्थान

प्रदह्याघातिकर्माणि शुक्लध्यानकृशानुना।
अयोगो याति शीलेशो मोक्षलक्ष्मीं निरास्रवः ॥२०॥

जब तेरहवें गुणस्थानके कालमें एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समय अवशिष्ट रह जाता है, तब शुक्लध्यान रूपी अग्निके द्वारा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मोंको भी भस्म करके अठारह हजार शीलोंके स्वामी बनकर तथा सर्व प्रकारके कर्मास्रवसे रहित होकर एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण योग-रहित अवस्थाका अनुभव करते हैं उस समय वे अयोगिकेवली कहलाते हैं। इस गुणस्थानका काल समाप्त होने पर वे मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् मुक्त या सिद्ध बनकर सिद्धालयमें जा विराजते हैं ॥२०॥

सिद्धोंका स्वरूप

सम्प्राप्ताष्टगुणा नित्या कर्माष्टकनिराशिनः।
लोकाग्रवासिनः सिद्धा भवन्ति निहितापदः ॥२१॥

आठ कर्मोंको नाश करके सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंको प्राप्त कर और सर्व आपदाओंसे विमुक्त होकर लोकके अग्रभागमें निवास करने वाले सिद्ध भगवान् होते है ॥२१॥

विशेषार्थ—सिद्धोंके आठ गुण ये हैं—अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार तो घातिया कर्मोंके क्षय से होते हैं, तथा अघातिया कर्मोंके क्षयसे क्रमशः अव्याबाध, अवगाहना, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व ये चार गुण प्रकट होते है, यह सिद्ध अवस्था आत्मविकासकी चरम सीमा है।

चौदह गुणस्थानोंका विशेष स्वरूप जाननेके लिए प्राकृत और संस्कृत पंचसंग्रह, गो० जीवकांड और उसकी संस्कृत टीकाएं देखना चाहिए।

इस प्रकार छठा अध्याय समाप्त हुआ।

• सप्तम अध्याय : संक्षिप्त सार

जैनधर्मके शास्ताओंने जिन हेय उपादेय रूप सात तत्त्वोंका उपदेश दिया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१ जीवतत्त्व, २ अजीवतत्त्व, ३ आस्रवतत्त्व ४ बन्धतत्त्व, ५ संवरतत्त्व, ६ निर्जरा-तत्त्व और ७ मोक्षतत्त्व। इनके विषयमें यह जान लेना आवश्यक है कि प्रयोजनभूत वस्तुको तत्त्व कहते हैं। प्रयोजनभूत तत्त्वोंको ज्ञेय हेय और उपादेयरूप तीन कोटियोंमें विभक्त किया जाता है। विना जाने किसी भी तत्त्वके भले-बुरेकी जांच नहीं हो सकती, अतः सातों तत्त्व सामान्यतः ज्ञेयरूप अर्थात् जाननेके योग्य हैं। किन्तु उनमें जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये चार तत्त्व उपादेय अर्थात् ग्रहण करनेके योग्य हैं और अजीव, आस्रव और बन्धतत्त्व हेय अर्थात् छोड़नेके योग्य हैं। इनमें से उपादेयरूप जो जीवतत्त्व है, उसका इस अध्यायमें विवेचन किया गया है। जीव सामान्यसे एक रूप है, संसारी और मुक्तकी अपेक्षा दो भेदरूप है, असिद्ध, नोसिद्ध और सिद्धकी विवक्षासे तीन भेदरूप है, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकीकी अपेक्षा चार भेद रूप है, पंच जातियोंकी अपेक्षा पाँच भेद रूप और छह कायोंकी अपेक्षा छह भेदरूप है। इस प्रकार इस अध्यायमें विभिन्न अपेक्षाओंसे जीवके भेद-प्रभेदोंका और उनकी विभिन्न जातियोंका विवेचन कर अन्तमें सिद्ध जीवोंका वर्णन कर यह सूचित किया गया है कि वही रूप हमारे लिए उपादेय है।

सप्तम अध्याय

सप्त तत्त्व

जीवोऽजीवास्रवौ बन्धः संवरो निर्जरा तथा ।
मोक्षश्च सप्त तत्त्वार्था मोक्षमार्गैषिणामिमे ॥१॥

मोक्षमार्गके इच्छुक जनोंके हितार्थ श्री जिनेन्द्र भगवान्‌ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व अर्थात् प्रयोजनभूत पदार्थ वर्णन किये हैं ॥१॥

सातों तत्त्वोंकी उपयोगिता

उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः ।
हेयस्यास्मिन्नुपादानहेतुत्वेनास्रवः स्मृतः ॥२॥
हेयोपादानरूपेण बन्धः स परिकीर्तितः ।
संवरो निर्जरा हेयहानहेतुतयोदितौ ।
हेयप्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः ॥३॥

मोक्षमार्गके जिज्ञासु जनोंके लिए उपादेयरूपसे आदिमें जीवको और हेयरूपसे तदनन्तर अजीवको कहा है । हेयरूप अजीव पदार्थका उपादान कारण होनेकी अपेक्षा तदनन्तर आस्रवको कहा है और इसी हेय अजीवपदार्थका उपादान कारण होनेकी अपेक्षा बन्ध तत्त्वको तत्पश्चात् कहा है । संवर और निर्जरा हेय अजीव पदार्थके हानके कारण है और उपादेय जीव तत्त्वकी प्राप्तिके

कारण हैं, इसलिए बन्धके पश्चात् इन दोनों तत्त्वोंको कहा है तथा हेय अजीव पदार्थ के प्रकृष्ट हानिका कारण और उपादेय जीव पदार्थके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिका कारण होनेसे अन्तमें मोक्षको कहा है ॥२–३॥

भावार्थ—ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्य भावके धारण करनेवाले द्रव्यको जीव कहते हैं। चेतना-रहित द्रव्यको अजीव कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल। इनका वर्णन अजीव द्रव्यके प्रकरणमें किया जायगा। अजीवके इन पाँच भेदोंके साथ जीव द्रव्यको मिला देने पर वे छह द्रव्य कहलाने लगते हैं। रागादि परिमाणरूप मन, वचन, कायके निमित्तसे जो पौद्गलिक कर्म आत्मामें आते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। जीव और पौद्गलिक कर्मोंका परस्परमें बँध जाना—एक-मेक हो जाना, बन्ध है। नवीन आते हुए कर्मोंका रुक जाना संवर कहलाता है। संचित हुए कर्मोंके देश-देशका झड़ जाना-आत्मासे दूर हो जाना निर्जरा है और आत्माका सर्वकर्मोंसे रहित हो जाना मोक्ष तत्त्व है। इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। इनमें आत्मा प्रधान है और उसका अन्तिम ध्येय मोक्षप्राप्ति है, इसलिए इन दो तत्त्वोंका ग्रहण आवश्यक है। जीवका संसारमें परिभ्रमण अजीवके निमित्तसे होता है। और उस संसारके कारण आस्रव और बन्ध हैं, इसलिए क्रमशः इन तीन तत्त्वोंका कथन आवश्यक है और अन्तिम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्तिके कारण संवर और निर्जरा है, इसलिए मोक्षके पूर्व उक्त दोनों तत्त्वोंका कथन भी आवश्यक है। इस प्रकार सात तत्त्वोंकी प्ररूपणा अत्यन्त सुसंगत है।

जीवका स्वरूप

चेतनालक्षणो जीवः कर्त्ता भोक्ता तनुप्रमः ।
अनादिनिधनोऽमूर्त्तः स च सिद्धः प्रमाणतः ॥४॥

वह जीव ज्ञान-दर्शनरूप चेतना लक्षणवाला है, अपने सुख-दुःखका कर्त्ता और भोक्ता है, देह-प्रमाण है, अनादिनिधन है, अमूर्त्त है तथा उस जीवका अस्तित्व प्रमाणोंसे सिद्ध है ॥४॥

जीवके भेद

सामान्यादेकधा जीवो बद्धो मुक्तस्ततो द्विधा ।
स एवासिद्ध-नोसिद्ध-सिद्धत्वात्कीर्त्यते त्रिधा ॥५॥
श्वाभ्रतिर्यग्नरामर्त्यविकल्पात् स चतुर्विधः ।
पञ्चभावविभिन्नत्वात् पञ्चभेदः प्ररूप्यते ॥६॥

वह जीव एक जीवन-सामान्य गुणकी अपेक्षा एक भेदरूप है। तथा बद्ध मुक्त या संसारी-सिद्धकी अपेक्षा दो प्रकारका है। वही जीव संसारी, नोसिद्ध या जीवन्मुक्त और सिद्धकी अपेक्षा तीन प्रकारका कहा जाता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार गतियोंकी अपेक्षा वह चार प्रकारका माना जाता है। तथा औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच भावोंकी अपेक्षा पाँच प्रकारका प्ररूपण किया जाता है ॥५-६॥

विशेषार्थ—पूर्व अध्यायमें बताये हुए तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती सयोगिकेवली और चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगिकेवलीको जीवन्मुक्त या नोसिद्ध कहते हैं। कर्मोंके उपशमसे होनेवाले भावोंको औपशमिक, कर्मोंके क्षयसे होनेवाले भावोंको क्षायिक, कर्मोंके क्षयोप-

शमसे होनेवाले भावोंको क्षायोपशमिक, कर्मोंके उदय-जनित भावों को औदयिक और कर्मोंके उदय, उपशम आदि अन्य निमित्तकी अपेक्षासे रहित स्वभावसे स्वतः होनेवाले परिणामोंको पारिणामिक भाव कहते हैं। इन पाँच प्रकारके भावोंकी अपेक्षा जीवके भी पाँच भेद हो जाते हैं।

जीवके दो भेद

संसारिणश्च मुक्ताश्च जीवास्तु द्विविधाः स्मृताः।
लक्षणं तत्र मुक्तानामुत्तरत्र प्रवक्ष्यते ॥७॥

संसारी और मुक्त इस प्रकार जीवके दो भेद जानना चाहिए। इनमेंसे मुक्त जीवोंका लक्षण आगे कहेंगे ॥७॥

साम्प्रतं तु प्ररूप्यन्ते जीवाः संसारवर्त्तिनः।
त्रस-स्थावरभेदेन द्विविधास्तेऽपि सम्मताः ॥८॥

अब पहले संसारमें परिभ्रमण करनेवाले संसारी जीवोंका वर्णन किया जाता है। संसारी जीव भी त्रस और स्थावर जीवोंके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ॥८॥

स्थावर जीव

स्थावराः स्युः पृथिव्यापस्तेजोवायुर्वनस्पतिः।
स्वैः स्वैर्भेदैः समा ह्येते सर्व एकेन्द्रियाः स्मृताः ॥९॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति ये पाँच प्रकारके स्थावर जीव होते हैं। ये सब अपनी-अपनी जातिके अनेकों भेदोंके साथ एकेन्द्रिय माने गये हैं, क्योंकि, इन सबके एक ही स्पर्शनेन्द्रिय होती है ॥९॥

त्रस जीव

त्रसा द्वि-त्रि-चतुःपञ्चहृषीका भवभागिनः ।
विकला संज्ञिसंज्ञ्याख्यास्त्रसप्रकृतियन्त्रिताः ॥१०॥

त्रस नामकर्मके उदयवाले ऐसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवोंको त्रस जानना चाहिए। उनमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंको विकलत्रय कहते है, क्योंकि इनके इन्द्रियोंकी विकलता (न्यूनता) पाई जाती है। पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे दो प्रकारके है। जिनके मन होता है, उन्हें संज्ञी कहते है और मन-रहित जीवोंको असंज्ञी कहते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव केवल तिर्यञ्चगतिमें ही पाये जाते है। शेष तीनों गतियोंके सर्व जीव संज्ञी ही होते हैं ॥१०॥

द्वीन्द्रिय जीव

शम्बूकः शङ्खशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दकाः ।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः ॥११॥

शम्बूक, शंख, सीप, गण्डूपद, कौड़ी, कुक्षिकृमि और लट, केंचुआ आदि ये सब द्वीन्द्रिय जीव माने गये है, क्योंकि, इन सबके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं ॥११॥

त्रीन्द्रिय जीव

कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकाः ।
घुण-मत्कुण-यूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ॥१२॥

कुंथु, पिपीलिका-चींटी-चींटा, कुम्भी, विच्छू, इन्द्रगोप, घुणका कीड़ा, खटमल और जूँ आदिक त्रीन्द्रिय जीव है, क्योंकि इनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती है ॥१२॥

चतुरिन्द्रिय जीव

मधुपः कीटको दंश-मशकौ मक्षिकास्तथा ।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ॥१३॥

भौंरा, कीड़ा, डांस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, वरटी, पतंगा आदि चतुरिन्द्रिय जीव है, क्योंकि इनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ पाई जाती हैं ॥१३॥

पञ्चेन्द्रिय जीव

पञ्चेन्द्रियाश्च मर्त्याः स्युर्नारकास्त्रिदिवौकसः ।
तिर्यञ्चोऽप्युरगाभोगिपरिसर्पचतुष्पदाः ॥१४॥

मनुष्य, नारकी, देव और साँप, भुजंग, परिसर्प, चतुष्पद (चौपाये), पक्षी आदि तिर्यंच ये सब पंचेन्द्रिय जीव हैं, क्योंकि, इनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं ॥१४॥

इन्द्रियका स्वरूप और भेद

इन्द्रियं लिङ्गमिन्द्रस्य तच्च पञ्चविधं भवेत् ।
स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमतः परम् ॥१५॥

आत्माके ज्ञान करानेवाले चिह्नको इन्द्रिय कहते हैं । वे पाँच प्रकारकी होती हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय ॥१५॥

मुक्त जीवोंका स्वरूप

इन्द्रियार्थसुखातीता लोकालोकावलोकिनः ।
क्षायिकातीन्द्रियज्ञाना मुक्ताः सन्ति निरिन्द्रियाः ॥१६॥

जो उक्त पाँचों इन्द्रियोंसे तथा उनके विषय-जनित सुखसे

रहित है, लोक और अलोकके अवलोकन करनेवाले हैं, क्षायिक अतीन्द्रिय ज्ञानके धारक हैं, अष्ट कर्मोंको नष्ट कर चुके हैं और तीन जगत्के ईश्वर हैं, ऐसे सिद्ध भगवान् मुक्त जीव कहलाते हैं ॥१६॥

जीवोंके विस्तृत भेद-प्रभेद आदि जाननेके लिए पञ्चसंग्रहका प्रथम प्रकरण, गो० जीवकाण्ड और तत्त्वार्थसार देखना चाहिए।

इस प्रकार जीवतत्त्वका वर्णन करनेवाला सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अष्टम अध्याय : संक्षिप्त सार

दूसरा अजीवतत्त्व है, उसके जैनदर्शनकारोंने पाँच भेद बतलाये हैं—पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल। इन्द्रियोंके द्वारा जितने भी जड़ पदार्थोंको हम देखते, जानते है, वे सब पुद्गलके ही विभिन्न रूप हैं। पुद्गलका लक्षण करते हुए जैनाचार्योंने बताया है कि मिलने और बिछुड़नेकी शक्ति रखनेवाली रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दात्मक जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब पुद्गल परमाणुओंके पूरण (संयोग) और गलन (वियोग) से उत्पन्न हुई हैं, यहाँ तक कि हमारा शरीर भी पौद्गलिक है और आत्माकी शक्तिको आच्छादित करनेवाले कर्म भी पौद्गलिक ही हैं। इसलिए हेयतत्त्वकी दृष्टिसे पुद्गलोंकी विभिन्न अवस्थाओं का जानना भी अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त सारे जगत्में एक ऐसा भी तत्त्व भरा हुआ है जो प्रत्येक गतिशील पदार्थके गमन करनेमें सहायक होता है, उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। तथा एक ऐसा भी पदार्थ सर्वलोकमें भरा हुआ है, जो ठहरनेवाले पदार्थों के ठहरनेमें सहायक होता है, उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। आकाश सर्वत्र व्यापक है और सर्वद्रव्योंको अवकाश देता है। कालद्रव्य सर्वपदार्थोंकी अवस्थाओंके परिवर्तनमें सहायक होता है। इन पाँचोंमेंसे एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्त्तिक है और शेष चार द्रव्य अमूर्त्तिक हैं। जिसमें रूप-रसादि पाये जायें उसे मूर्त्तिक कहते हैं, और रूप-रसादिसे रहित तथा इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थोंको अमूर्त्तिक कहते हैं। इस प्रकार आठवें अध्यायमें अजीवतत्त्वके भेद-प्रभेदोंका वर्णन किया गया है।

अष्टम अध्याय

अजीवतत्त्व

धर्माधर्मौतथाऽऽकाशं तथा कालश्च पुद्गलाः ।
अजीवाः खलु पञ्चैते निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥१॥

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव पदार्थ सर्वदर्शी जिनभगवान्‌ने कहे हैं ॥१॥

षट् द्रव्य

एते धर्मादयः पञ्च जीवाश्च प्रोक्तलक्षणाः ।
षट् द्रव्याणि निगद्यन्ते द्रव्ययाथात्म्यवेदिभिः ॥२॥

ये धर्मास्तिकाय आदि पाँच अजीव पदार्थ और पहले जिनका लक्षण कह आये है, वह जीवपदार्थ, ये छह द्रव्य द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप जाननेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहे हैं ॥२॥

पञ्चास्तिकाय

विना कालेन शेषाणि द्रव्याणि जिनपुङ्गवैः ।
पञ्चास्तिकायाः कथिताः प्रदेशानां बहुत्वतः ॥३॥

उपर्युक्त छह द्रव्योंमेंसे कालके विना शेष द्रव्योंको जिनेन्द्रदेव ने पञ्चास्तिकाय कहा है, क्योंकि, इन पाँचों द्रव्योंके प्रदेश बहुत पाये जाते है ॥३॥

भावार्थ—आकाशके जितने भागको पुद्गलका एक अविभागी अंश परमाणु रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं । इस प्रकारके

अनेक प्रदेश जिनके पाये जाते हैं, उन्हें अस्तिकाय कहते हैं, ऐसे अस्तिकाय पाँच द्रव्य हैं। काल द्रव्य नहीं, क्योंकि उसके एक ही प्रदेश होता है।

द्रव्यका लक्षण

समुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणं क्षीणकल्मषाः।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं वदन्ति जिनपुङ्गवाः ॥४॥

वीतराग जिनभगवान्‌ने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे युक्त, या गुण-पर्यायवाले पदार्थको द्रव्यका लक्षण कहा है ॥४॥

भावार्थ—पदार्थमें नई अवस्थाके उत्पन्न होनेको उत्पाद, पूर्व अवस्थाके विनाशको व्यय और पूर्वोत्तरकालव्यापी अखण्ड सन्तानको ध्रौव्य कहते हैं। उक्त छहों द्रव्योंमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पाया जाता है, इसलिए यही द्रव्यका लक्षण कहा गया है। अथवा गुण और पर्यायसे युक्त पदार्थको द्रव्य कहते हैं। जो धर्म जीवादि पदार्थोंमें सर्वदा पाया जाता है उसे गुण कहते हैं जैसे ज्ञान-दर्शनादिक। और जो धर्म क्रमसे उत्पन्न होता है और बदलता रहता है उसे पर्याय कहते हैं, जैसे मनुष्यकी नरक, पशु, देवादि पर्याय। यदि दोनों द्रव्यलक्षणोंका समन्वय करके देखा जाय, तो ध्रौव्यधर्म गुणस्वरूप और उत्पाद-व्ययधर्म पर्यायरूप पड़ते हैं, इसलिए दोनों लक्षणोंमें कोई भेद नहीं समझना चाहिए।

द्रव्योंमें रूपी-अरूपीका भेद

शब्द-रूप-रस-स्पर्श-गन्धात्यन्तव्युदासतः।
पञ्चद्रव्याण्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलाः पुनः ॥५॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इनके सद्भावसे पुद्गल

द्रव्य रूपी कहलाता है और इन रूपादिकके अत्यन्त अभावसे शेष पाँच द्रव्य अरूपी कहलाते है ॥५॥

द्रव्योंकी एकता-अनेकता

धर्माधर्मान्तरिक्षाणां द्रव्यमेकत्वमिष्यते ।
काल-पुद्गल-जीवानामनेकद्रव्यता मता ॥६॥

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश ये तीनों ही एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं । काल, पुद्गल और जीव ये पृथक्-पृथक् अनेक द्रव्य है ॥६॥

द्रव्योंकी निष्क्रियता-सक्रियता

धर्माधर्मौ नभः कालश्चत्वारः सन्ति निष्क्रियाः ।
जीवाश्च पुद्गलाश्चैव भवन्त्येतेषु सक्रियाः ॥७॥

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये चार द्रव्य क्रिया-रहित है इसलिए ये निष्क्रिय कहलाते हैं । जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य क्रिया-सहित हैं, इसलिए सक्रिय कहलाते हैं ॥७॥

द्रव्योंके प्रदेशोंकी संख्या

एकस्य जीवद्रव्यस्य धर्माधर्मास्तिकाययोः ।
असंख्येयप्रदेशत्वमेतेषां कथितं पृथक् ॥८॥
संख्येयाश्चाप्यसंख्येया अनन्ता यदि वा पुनः ।
पुद्गलानां प्रदेशाः स्युरनन्ता वियतस्तु ते ॥९॥
कालस्य परिमाणस्तु द्वयोरप्येतयोः किल ।
एकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वमिष्यते ॥१०॥

एक जीवद्रव्यके तथा धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके

पृथक्-पृथक् असंख्यात प्रदेश कहे गये हैं। पुद्गलोंके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। आकाशके अनन्त प्रदेश हैं। निश्चय और व्यवहाररूप दोनों प्रकारके कालके एक प्रदेशमात्र होनेसे उसे अप्रदेशी कहा गया है ॥८-१०॥

लोक-अलोकका विभाग

लोकाकाशेऽवगाहः स्याद्‌द्रव्याणां न पुनर्बहिः।
लोकालोकविभागः स्यादत एवाम्बरस्य हि ॥११॥

जीवादि छहों द्रव्योंका अवगाहन लोकाकाशमें है, उससे बाहर नहीं। आकाशके जितने भागमें छहों द्रव्योंका सद्भाव पाया जाता है, उसे लोक या लोकाकाश कहते हैं. और उससे बाहरके अनन्त आकाशको अलोक या अलोकाकाश कहते हैं। इस प्रकार एक ही आकाशके द्रव्योंके सद्भाव या असद्भावके कारण दो भेद हो जाते हैं ॥११॥

छहों द्रव्योंके उपकार

धर्मस्य गतिरत्र स्यादधर्मस्य स्थितिर्भवेत्।
उपकारोऽवगाहस्तु नभसः परिकीर्तितः ॥१२॥
पुद्गलानां शरीरं वाक् प्राणापानौ तथा मनः।
उपकारः सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥१३॥
परस्परस्य जीवानामुपकारो निगद्यते।
उपकारस्तु कालस्य वर्तना परिकीर्तिता ॥१४॥

जीव और पुद्गलोंके गमनमें सहायक होना धर्मास्तिकायका उपकार है। जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें सहायक होना अधर्मास्तिकायका उपकार है। छहों द्रव्योंको अवकाश देना यह आकाश

का उपकार कहा गया है। शरीर, वचन, श्वास, उच्छ्वास और मन ये पुद्गलोंका उपकार है, तथा सुख-दुःख, जीवन और मरण ये भी पुद्गलोंका उपकार है, तथा सुख-दुःखादिक जीवोंके भी उपकार जानना चाहिए। परस्परमें जो गुरु शिष्यका, स्वामी-सेवकका उपकार है, वह भी जीवोंका उपकार कहा जाता है। द्रव्योंके परिवर्तनमें सहायक होना यह कालद्रव्यका उपकार है ॥१२–१४॥

पुद्गलकी निरुक्ति

भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद् गलनादपि।
पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यन्ते पुद्गला इति ॥१५॥

यतः पुद्गल द्रव्य भेद-संघात आदि निमित्तसे आपसमें मिलता और बिछुड़ता है, अतः वस्तु स्वभावके ज्ञाता जिनेन्द्रदेवने उसे पुद्गल कहा है ॥१५॥

पुद्गलके भेद

अणु-स्कन्धविभेदेन विविधाः खलु पुद्गलाः।
स्कन्धो देशः प्रदेशश्च स्कन्धस्तु त्रिविधो भवेत् ॥१६॥

अणु और स्कन्धके भेदसे पुद्गल दो प्रकारके है। इनमें स्कन्ध के तीन भेद है—स्कन्ध, देश और प्रदेश ॥१६॥

स्कन्ध आदिका स्वरूप

अनन्तपरमाणूनां संघातः स्कन्ध इष्यते।
देशस्तस्यार्धमर्धार्धं प्रदेशः परिकीर्तितः ॥१७॥

अनन्त परमाणुओंके समुदायको स्कन्ध कहते हैं। उस स्कन्ध के आधे भागको देश कहते है और उसके भी आधे भागको प्रदेश कहते है ॥१७॥

अणु और स्कन्धकी उत्पत्तिका कारण

भेदात्तथा च संघातात्तथा तदुभयादपि ।
उत्पद्यन्ते खलु स्कन्धा भेदादेवाणवः पुनः ॥१८॥

स्कन्धोंकी उत्पत्ति भेदसे, संघातसे तथा दोनोंसे होती है। किन्तु परमाणुओंकी उत्पत्ति तो भेदसे ही होती है ॥१८॥

भावार्थ—स्कन्धोंकी उत्पत्ति, महास्कन्धके भेदसे, या छोटे स्कन्धोंके समुदायसे अथवा बड़ेके भेद और छोटेके समुदाय इन दोनों निमित्तोंसे होती है, परन्तु अणुओंकी उत्पत्ति स्कन्धोंके भेदसे ही होती है, क्योंकि पुद्गलके सबसे छोटे टुकड़ेको अणु या परमाणु कहते हैं।

अजीव तत्त्वकी विशेष जानकारीके लिए तत्त्वार्थसूत्रका पाँचवाँ अध्याय और उसकी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक टीकाको देखना चाहिए।

इस प्रकार अजीवका वर्णन करनेवाला अष्टम अध्याय समाप्त हुआ।

• नवम अध्याय : संक्षिप्त सार •

इस अध्यायमें आस्रवतत्त्वका विस्तारसे विवेचन किया गया है। योगसे अर्थात् मन, वचन और कायकी हलन-चलनरूप क्रियाके द्वारा जो पौद्गलिक कर्म आत्माके भीतर आते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। यदि हमारे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति शुभ होती है, तो पुण्यकर्मका आस्रव होता है और यदि अशुभ होती है, तो पाप कर्मका आस्रव होता है। भावोंकी तीव्रता, मन्दता आदिके द्वारा पुण्य या पापके आस्रवमें भी विशेषता होती है यतः मन-वचन-कायकी क्रिया प्रतिक्षण होती रहती है, अतः प्रतिसमय कर्मोंका समुदाय आत्माके भीतर आता रहता है। और आत्मामें प्रवेश करनेके साथ ही वह आठ कर्मों रूपसे परिणत हो जाता है। आठ कर्मोंके नाम इस प्रकार हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। कैसे कार्य करनेसे किस कर्मका तीव्र आस्रव होता है, इस बातका विवेचन इस अध्यायमें किया गया है, यदि कोई ज्ञानी व्यक्ति इन आठों कर्मोंके आनेके कारणोंको जानकर उनसे आत्माको सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करे, तो वह बहुत शीघ्र आस्रवका निरोधकर और संचित कर्म पुद्गलोंकी निर्जरा करके कर्म-लेपसे विनिर्मुक्त हो सकता है। आयुकर्मके आस्रवके कारण बतलाते हुए देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरकमें ले जानेवाले कारणोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। नामकर्मके आस्रव बतलाते हुए त्रिलोक-पूज्य तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवकी कारणभूत षोडश कारण-भावनाओंका भी वर्णन किया गया है। अन्तमें व्रत और अव्रतका स्वरूप बतलाकर इस अध्यायको समाप्त किया गया है।

नवम अध्याय

आस्रव तत्त्वका स्वरूप

कायवाङ्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः ।
शुभः पुण्यस्य विज्ञेयो विपरीतश्च पाप्मनः ॥१॥

काय, वचन और मनकी जो क्रिया हलन-चलन रूप होती है, उसे योग कहते हैं। वही योग आस्रव माना गया है। वह योग यदि शुभ हो तो पुण्यका आस्रव होता है और यदि विपरीत हो अर्थात् अशुभ हो, तो पापका आस्रव होता है ॥१॥

आस्रवके दो भेद

जन्तवः सकषाया ये कर्म ते साम्परायिकम् ।
अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे ॥२॥

प्रथम गुणस्थानसे लेकर दशवें गुणस्थान तकके जो जीव हैं, वे सकषाय कहलाते हैं, क्योंकि, आगेके गुणस्थानोंमें कषायका अभाव है। जो कषाय-सहित जीव हैं, वे साम्परायिक आस्रवको उपार्जन करते हैं, और जो उपशान्तकषाय आदि ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती जीव हैं, वे ईर्यापथ आस्रवको उपार्जन करते हैं ॥२॥

भावार्थ—कषाय-सहित कर्मास्रवको साम्परायिक आस्रव और कषाय-रहित आस्रवको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। जैसे गीली दीवाल पर उड़ती हुई धूलि चिपक जाती है, उसी प्रकार सकषाय

जीवके आनेवाला कर्म बँध जाता है। किन्तु सूखी दीवाल पर जैसे उड़कर आई हुई धूलि लग कर झड़ जाती है, उसी प्रकार कषाय-रहित जीवके योगकी चंचलतासे जो कर्म आते हैं, वे भी आत्मासे टकराकर झड़ जाते हैं, बन्धको प्राप्त नहीं होते।

चतुःकषायपञ्चाक्षैस्तथा पञ्चभिरव्रतैः।
क्रियाभिः पञ्चविंशत्या साम्परायिकमास्रवेत् ॥३॥

क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायोंसे, स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंसे, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंसे और पच्चीस क्रियाओंसे साम्परायिक आस्रव होता है ॥३॥

पच्चीस क्रियाओंका वर्णन सर्वार्थसिद्धिसे जानना चाहिए।

आस्रवकी हीनाधिकताके कारण

तीव्र-मन्द-परिज्ञात-भावेभ्यो ज्ञातभावतः।
वीर्याधिकरणाभ्यां च तद्विशेषं विदुर्जिनाः ॥४॥

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरणकी विशेषतासे साम्परायिक आस्रवमें विशेषता होती है ऐसा जिन भगवान्ने कहा है ॥४॥

भावार्थ—एक सरीखे कर्मको करते हुए भी विभिन्न लोगोंमें उनके तीव्र-मन्द आदि भावोंके अनुसार कर्मास्रवमें विभिन्नता होती है, यह इस श्लोकका अभिप्राय समझना चाहिए। अधिकरणके दो भेद बताये गये है—१ जीवाधिकरण, २ अजीवाधिकरण। जीवाधिकरणके १०८ भेद और अजीवाधिकरणके संयोग, निसर्ग आदि ११ भेद बतलाये गये हैं। उनका विस्तृत विवेचन तत्त्वार्थ-

सूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धि आदिसे जानना चाहिए। यहाँ विस्तारके भयसे उनका वर्णन नहीं किया है।

कर्मोंके आठ मूल भेद बतला आये हैं। ये ही जीवके स्वरूप को घातकर उसका असली स्वभाव प्रकट नहीं होने देते हैं। पहले सिद्धोंके जो आठ गुण बतला आये हैं, उन्हें ही ये आठ कर्म घातते हैं। अब आगे यह बतलाते हैं कि कैसे काम करनेसे किस कर्मका आस्रव होता है।

ज्ञानावरणीय कर्मके आस्रवके कारण

मात्सर्यमन्तरायश्च प्रदोषो निह्नवस्तथा।
आसादनोपघातौ च ज्ञानस्योत्सूत्रचोदितौ ॥५॥
अनादरार्थश्रवणमालस्यं शास्त्रविक्रयः।
बहुश्रुताभिमानेन तथा मिथ्योपदेशनम् ॥६॥
अकालाधीतिराचार्योपाध्यायप्रत्यनीकता।
श्रद्धाभावोऽप्यनभ्यासस्तथा तीर्थोपरोधनम् ॥७॥
बहुश्रुतावमानश्च ज्ञानाधीतेश्च शाठ्यता।
इत्येते ज्ञानरोधस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥८॥

ज्ञानी पुरुषको देखकर ईर्ष्या करना, ज्ञानके साधनोंमें विघ्न उपस्थित करना, ज्ञानी जनोंमें दोष लगाना, उनका निह्नव करना, आसादन करना, उनके प्रशस्त गुणोंमें भी दूषण प्रकट करना, ज्ञानका प्रतिकूल निरूपण करना, ज्ञानमें अनादर करना, ज्ञानका अर्थ समझने-सुननेमें आलस्य करना, या अनादर पूर्वक शास्त्रोंका अर्थ सुनना, आलस्य करना, शास्त्रोंको बेचना, पाण्डित्यके अभिमानसे मिथ्या उपदेश देना, अकालमें अध्ययन करना,

आचार्य और उपाध्यायसे प्रतिकूल आचरण करना, श्रद्धा नहीं रखना, विद्याभ्यास नहीं करना, पाठशाला, स्वाध्यायशाला और सरस्वती-भवन आदिके काममें रुकावट डालना, अपने बहुज्ञानी होनेका अभिमान करना और दूसरे बहुश्रुतज्ञानीका अपमान करना, ज्ञानके अध्ययनमें शठता रखना इत्यादि कार्य ज्ञानावरणीय कर्मके आस्रवके कारण है अर्थात् इन कार्योंके करनेसे आत्माका अनन्त पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान प्रकट नहीं होने पाता ॥५-८॥

दर्शनावरणीय कर्मके आस्रवके कारण

दर्शनस्यान्तरायश्च प्रदोषो निह्नवोऽपि वा ।
मात्सर्यमुपघातश्च तस्यैवासादनं तथा ॥९॥
नयनोत्पाटनं दीर्घस्वापिता शयनं दिवा ।
नास्तिक्यवासना सम्यग्दृष्टिसंदूषणं तथा ॥१०॥
कुतीर्थानां प्रशंसा च जुगुप्सा च तपस्विनाम् ।
दर्शनावरणस्यैते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥११॥

किसीके देखनेमें अन्तराय करना, दोष लगाना, निह्नव करना, ईर्ष्या करना, उपघात करना, किसीकी देखी गई ठीक भी वस्तुमें दूषण प्रकट करना, किसीके नेत्र उखाड़ देना, बड़ी लम्बी नींद लेना, दिनको सोना, नास्तिकताकी भावना रखना, सम्यग्दृष्टि पुरुष को दोष लगाना, कुतीर्थोंकी प्रशंसा करना, तपस्वियोंको देखकर उनसे ग्लानि करना, इत्यादि दर्शनावरणीय कर्मके आस्रवके कारण है, अर्थात् उपर्युक्त काम करनेसे ऐसा कर्मबन्ध होता है जिससे कि आत्माका वा त्रैलोक्यका साक्षात्कार करनेवाला दर्शनगुण प्रकट नहीं होने पाता ॥९-११॥

अब चिन्ता, शोक आदि उत्पन्न करनेवाले और अनिष्ट-संयोग व इष्ट-वियोग करनेवाले असाता वेदनीयकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

दुःखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम् ।
परात्मद्वितयस्थानि तथा च परपैशुनम् ॥१२॥
छेदनं भेदनं चैव ताडनं दमनं तथा ।
तर्जनं भर्त्सनं चैव सद्योऽविश्वसनं तथा ॥१३॥
पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशीलत्वमेव च ।
शास्त्रप्रदानं विश्रम्भघातनं विषमिश्रणम् ॥१४॥
श्रृङ्खला-वागुरा-पाश-रज्जु-जालादिसर्जनम् ।
धर्मविध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथा ॥१५॥
तपस्विगर्हणं शीलव्रतप्रच्यावनं तथा ।
इत्यसद्वेदनीयस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥१६॥

दुःख करना, शोक करना, किसीका वध करना, सन्ताप करना, चिल्लाना और हाय-हाय करना, इतने काम चाहे स्वयं करे, चाहे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देवे कि जिससे दूसरा उक्त काम करे, और चाहे स्वयं भी करे और दूसरोंको भी दुःख, शोकादि उत्पन्न करावे; तथा परायी चुगली करना, परके अंग-उपांगोंका छेदना, भेदना, परको ताड़न करना, दमन करना, तर्जन करना, तिरस्कार करना, जल्दी विश्वास नहीं करना, पाप युक्त कार्योंसे आजीविका करना, कुटिल स्वभाव रखना, हिंसाके साधनभूत शस्त्र आदि दूसरोंको देना, विश्वासघात करना, विषोंका सम्मिश्रण करना, सांकल, लगाम, पाश, रस्सी और जाल आदिका बनाना, धर्मका विध्वंस करना, धर्म-कार्योंमें विघ्न उपस्थित करना, तपस्वियोंकी

निन्दा करना, दूसरोंको शील और व्रतसे डिगाना-गिराना इत्यादि कार्य असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं, अर्थात् उक्त कार्योंके करनेसे इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि असाताके उत्पन्न करनेवाले कर्मका बन्ध होता है ॥१२-१६॥

अब इष्ट-संयोग एवं अन्य सुख साधनोंके मिलानेवाले पुण्यरूप सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण कहते है—

> दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा ।
> वैयावृत्त्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा ॥१७॥
> सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा ।
> भूतव्रत्यनुकम्पा च सद्वेद्यास्रवहेतवः ॥१८॥

प्राणियों पर दया करना, उन्हें दान देना, तप, शीलका पालन करना, सत्य बोलना, शौच रखना, इन्द्रियोंका दमन करना, क्षमा धारण करना, रोगी शोकीकी वैयावृत्त करना, विनय रखना, जिनपूजा करना, सरल भाव रखना, सरागसंयम (मुनिव्रत) और संयमा-संयम (श्रावकधर्म) का पालन करना, प्राणिमात्र पर तथा व्रती पुरुषों पर अनुकम्पा करना इत्यादि कार्य सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं ॥१७-१८॥

अब संसारमें रुलानेवाले और अविवेक उत्पन्न करनेवाले दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवके कारण कहते है—

> केवलिश्रुत-सङ्घानां धर्मस्य त्रिदिवौकसाम् ।
> अवर्णवादग्रहणं तथा तीर्थंकृतामपि ॥१९॥
> मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम् ।
> इति दर्शनमोहस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥२०॥

केवली भगवान्, श्रुतज्ञान, मुनि-आर्यिका श्रावक श्राविकारूप संघका और देवताका अवर्णवाद करना अर्थात् उनमें जो दोष नहीं है उन्हें प्रकट करना, तीर्थंकरोंका भी अवर्णवाद करना, सन्मार्गमें दूषण लगाना, कुमार्गका उपदेश देना इत्यादि कार्य दर्शनमोहनीय कर्मके आस्रवके कारण होते है ॥१९-२०॥

भावार्थ—उक्त कार्योंसे ऐसा कर्म बँधता है, जिसके कारण जीवको अनन्त काल तक संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है।

अब सदा काल चित्तमें अशान्ति रखनेवाले प्रबल चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

> स्यात्तीव्रपरिणामो यः कषायाणां विपाकतः।
> चारित्रमोहनीयस्य स एवास्रवहेतवः ॥२१॥

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंके तथा हास्य, रति, अरति आदि नौ नोकषायोंके उदयसे जो क्रोध, मान आदि रूप तीव्र परिणाम होते हैं, वे सब चारित्रमोहनीयकर्मके आस्रवके कारण है ॥२१॥

भावार्थ—क्रोध, मान आदि करनेसे ऐसे कर्मका आस्रव होता है, जिससे कि यह जीव व्रत, शील-संयम आदिके धारण करनेमें असमर्थ रहता है।

आयुकर्मके चार भेद हैं, उनमेंसे पहले नारकायुकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

> उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता।
> मायात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता ॥२२॥
> अजस्रं जीवघातित्वं सततानृतवादिता।
> परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम् ॥२३॥

काम-भोगाभिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता ।
जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम् ॥२४॥
मार्जारताम्रचूडादिपापीयःप्राणिपोषणम् ।
नैःशील्यं च महारम्भपरिग्रहतया सह ॥२५॥
कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् ।
आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥२६॥

अत्यन्त अधिक मान रखना, पाषाणकी रेखाके समान क्रोध करना, मायाचार करना, तीव्र लोभ रखना, निरन्तर निर्दय परिणाम रखना, सदा जीवघात करना, सदा झूठ बोलना, सदा पराये धनको हरना, नित्य मैथुन सेवन करना, काम भोगोंकी नित्य बढ़ती हुई अभिलाषा रखना, जिन भगवान्‌की आसादना करना, साधुओंकी परम्पराका और जैन-शासनका भेद करना, बिल्ली, मुर्गा, कुत्ता आदि पापी (हिंसक) प्राणियोंका पालन करना, व्रत, शील आदि कुछ नहीं पालन करना, महाआरम्भ और परिग्रह रखते हुए कृष्ण-लेश्यासे युक्त मनोवृत्ति रखना, हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द ये चार प्रकारका रौद्रध्यान रखना इत्यादि कार्य नारकायुके आस्रवके कारण है ॥२२-२६॥

अब एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा पशु-पक्षियोंमें उत्पन्न करनेवाले तिर्यच-आयुकर्मके आस्रवके कारण कहते है—

नैःशील्यं निर्व्रतत्वं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम् ।
मिथ्यात्वसमवेतानामधर्माणां च देशनम् ॥२७॥
कृत्रिमागुरुकर्पूरकुङ्कुमोत्पादनं तथा ।
तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम् ॥२८॥

सुवर्णमौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितिः ।
वर्ण-गन्ध-रसादीनामन्यथापादनं तथा ॥२९॥
तक्र-क्षीर-घृतादीनामन्यद्रव्यविमिश्रणम् ।
वाचान्यदुत्काकरणमन्यस्य क्रियया तथा ॥३०॥
कापोत-नील-लेश्यात्वमार्तध्यानं च दारुणम् ।
तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्रवहेतवः ॥३१॥

शील पालन नहीं करना, व्रत धारण नहीं करना, मिथ्यात्व सेवन करना, परको ठगना, मिथ्यात्व-युक्त अधर्मोंका उपदेश देना, नकली अगरु, कर्पूर, कुंकुम-केशर वगैरह बनाना, हीनाधिक नाप-तौल करना, सुवर्ण, मोती, चाँदी आदिका प्रतिरूपक व्यवहार करना, धातुओंके वर्ण, गन्ध, रस आदिका अन्यथा वर्णादिक करना अर्थात् भस्मादि तैयार करना, छांछ, दूध, घी आदिमें अन्य द्रव्य मिलाकर बेंचना, वचनके द्वारा अन्यका परिहास करना, तथा कायकी क्रियाके द्वारा अन्यकी हँसी उड़ाना, कापोत और नीललेश्या रूप परिणाम रखना, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, वेदना और निदान ये चार प्रकारका दारुण आर्तध्यान रखना, मायाचार करना इत्यादि कर्म तिर्यंच आयुके आस्रवके कारण जानना चाहिए ॥२७–३१॥

अब मनुष्योंमें उत्पन्न करनेवाले मनुष्यायु कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

ऋजुत्वमीषदारम्भः परिग्रहतया सह ।
स्वभावमार्दवं चैव गुरुपूजनशीलता ॥३२॥
अल्पसंक्लेशता दानं विरतिः प्राणिघाततः ।
आयुषो मानुषस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥३३॥

परिणामोंमें सरलता रखना, अल्प परिग्रहके साथ अल्प आरम्भ रखना, स्वभाव कोमल रखना, गुरुजनोंका पूजन करना, अल्प संक्लेश रखना, दान देना, प्राणिघातसे विरक्ति होना इत्यादि कार्य मनुष्यायुके आस्रवके कारण होते है ॥३२–३३॥

अब देवोंमें उत्पन्न करनेवाले देवायु कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

अकामनिर्जरा बालतपो मन्दकषायता ।
सुधर्मश्रवणं दानं तथायतनसेवनम् ॥३४॥
सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः ।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥३५॥

अकामनिर्जरा करना, बालतप धारण करना, मन्द कषाय रखना, सच्चे धर्मका सुनना, दान देना, धर्मके स्थानोंकी सेवा करना, सराग संयम धारण करना, सम्यग्दर्शन और देशसंयम पालन करना इत्यादि कार्य देवायुके आस्रवके कारण होते हैं ॥३४–३५॥

भावार्थ—विना इच्छाके परवश हो भूख, प्यास आदिकी बाधा सहन करनेसे जो कर्म-निर्जरा होती है, उसे अकाम-निर्जरा कहते हैं। अज्ञान-पूर्वक तपश्चरणको बाल-तप कहते हैं। कषाय सहित साधुओंके संयमको सराग-संयम कहते है। श्रावकके व्रतोंको देश-संयम कहते हैं। इन सबके धारण करनेसे जीव मरकर देव-गतिमें उत्पन्न होता है।

अब हीनांग, रोगी, शोकी, अभागी आदि अवस्थाओंके उत्पन्न करनेवाले अशुभनामकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

मनोवाक्कायवक्रत्वं विसंवादनशीलता ।
मिथ्यात्वं कूटसाक्षित्वं पिशुनास्थिरचित्तता ॥३६॥
विषक्रियेष्टकापाकदावाग्नीनां प्रवर्तनम् ।
प्रतिमायतनोद्यानप्रतिश्रयविनाशनम् ॥३७॥
चैत्यस्य च तथा गन्धमाल्यधूपादिमोषणम् ।
अतितीव्रकषायत्वं पापकर्मोपजीवनम् ॥३८॥
परुषासह्यवादित्वं सौभाग्याकरणं तथा ।
अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रवहेतवः ॥३९॥

मन, वचन और कायका कुटिल रखना, कलह करना, विसंवादी स्वभाव रखना, मिथ्यादर्शन धारण करना, नकली या झूठी गवाही देना, चुगली करना, अस्थिरचित्त होना, विष बनाना, ईंटोंका पकाना, जंगलोंमें अग्नि लगवाना, प्रतिमा, चैत्यालय, उद्यान, वसतिका आदिका विनाश करना, देव-मन्दिरकी गन्ध, माला, धूप, केशर आदिका चुराना, अति तीव्र कषाय रखना, पाप-युक्त कर्मोंसे आजीविका करना, कठोर और असह्य वचन बोलना, दूसरेके सौभाग्यका विलोप करना इत्यादि कार्य अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं अर्थात् उक्त कार्योंके करनेसे मनुष्य लँगड़ा, लूला, अन्धा, अल्पायु, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, दुर्भागी, दुःस्वर, कुटिल गतिवाला, हीन संहनन व बुरे संस्थानवाला होता है ॥३६–३९॥

अब सुन्दर शरीर, सौभाग्य, कीर्त्ति आदिके उत्पन्न करनेवाले शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

संसारभीरुता नित्यमविसंवादनं तथा ।
योगानां चार्जवं नाम्नः शुभस्यास्रवहेतवः ॥४०॥

संसारसे सदा भयभीत रहना, कभी किसीसे कलह विसंवाद

नहीं करना, और मन, वचन, कायका सरल रखना इत्यादि उत्तम कार्य शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण है ॥४०॥

विशेष—शुभनाम और अशुभनामकर्मके भेदोंको आगे बन्ध-तत्त्वके प्रकरणमें बतलाया जायगा।

शुभनामकर्मके भेदोंमें एक तीर्थंकर प्रकृति भी है, यह वह प्रकृति है, जिसके उदयसे मनुष्य नरसे नारायण हो जाता है, तीर्थंकर एवं अर्हन्त पदको प्राप्त होता है और त्रैलोक्यका उद्धार करनेवाले सच्चे धर्मका उपदेश करता है, अतः अब उसी तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवके कारणोंको कहते है—

विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तितः।
मार्गप्रभावना चैव सम्पत्तिर्विनयस्य च ॥४१॥
शीलव्रतानतीचारो नित्यं संवेगशीलता।
ज्ञानोपयुक्तताऽऽभीक्ष्णं समाधिश्च तपस्विनः ॥४२॥
वैयावृत्त्यमनिर्हाणिः षड्विधावश्यकस्य च।
भक्तिः प्रवचनाचार्यजिनप्रवचनेषु च ॥४३॥
वात्सल्यं च प्रवचने षोडशैते यथोदिताः।
नाम्नस्तीर्थंकरत्वस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४४॥

१ सम्यग्दर्शनकी परम विशुद्धि होना, २ शक्तिके अनुसार तप करना, ३ शक्तिके अनुसार त्याग (दान) करना, ४ सन्मार्गकी प्रभावना करना, ५ विनयसे सम्पन्न होना, ६ व्रत और शीलोंका निर्दोष परिपालन करना, ७ संसारसे निरन्तर भयभीत रहना, ८ निरन्तर ज्ञानाभ्यास करना और आत्म-ज्ञानमें उपयुक्त रहना, ९ साधु-समाधि करना, १० तपस्वियोंकी वैयावृत्य करना, ११ सामायिक आदि छह आवश्यकोंका निरन्तर परिपालन करना, १२ प्रवचनमें

भक्ति रखना, १३ आचार्यकी भक्ति करना, १४ अर्हद्भक्ति करना, १५ उपाध्याय-भक्ति करना और १६ प्रवचनमें वात्सल्य रखना, ये सोलह भावना तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवके कारण हैं ॥४१-४४॥

अब नीच कुलमें उत्पन्न करनेवाले नीचगोत्रकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

असद्गुणानामाख्यानं सद्गुणाच्छादनं तथा ।
स्वप्रशंसाऽन्यनिन्दा च नीचैर्गोत्रस्य हेतवः ॥४५॥

अपनेमें जो गुण नहीं हैं, उनको प्रकट करना, दूसरोंके अवगुणोंको कहना, तथा उनके सद्गुणोंको आच्छादित करना, अपनी प्रशंसा और परकी निन्दा करना, अपनी जाति,कुल आदिका मद करना, पञ्च पापमय प्रवृत्ति रखना इत्यादि कार्य नीचगोत्रके आस्रवके कारण है ॥४५॥

अब ऊँच कुलमें उत्पन्न करनेवाले उच्चगोत्रकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकः पूर्वस्य च विपर्ययः ।
उच्चैर्गोत्रस्य सर्वज्ञैः प्रोक्ता आस्रवहेतवः ॥४६॥

नम्रवृत्ति रखना, अहंकार नहीं करना, दूसरेके सद्गुणोंको प्रकट करना, अपने अवगुणोंको कहना, पर-प्रशंसा और आत्म-निन्दा करना इत्यादि कार्योंको सर्वज्ञदेवने उच्चगोत्रके आस्रवका कारण कहा है ॥४६॥

अब मनुष्यके लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य आदिमें विघ्न करनेवाले अन्तरायकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम् ।
अनाथदीनकृपणभिक्षादिप्रतिषेधनम् ॥४७॥

वधबन्धनिरोधैश्च नासिकाच्छेदकर्त्तनम् ।
प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा ॥४८॥

निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम् ।
दानभोगोपभोगादिप्रत्यूहकरणं तथा ॥४९॥

ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा ।
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥५०॥

तपस्वी, गुरुजन और प्रतिमाओंकी पूजाके विलोप करनेकी प्रवृत्ति करना, अनाथ, दीन और कृपण पुरुषोंको भिक्षा आदि देनेका निषेध करना, अपने आधीन दासी-दास तथा पशु-पक्षियोंका वध करना, बन्ध करना, अन्न-पान रोक देना, उनकी नाक काट देना, कान काट देना, प्रमादसे देवताका दिया हुआ नैवेद्य-प्रसाद ग्रहण करना, तथा धर्म-साधनके निर्दोष उपकरणोंका परित्याग करना, प्राणियोंकी हिंसा करना, तथा दूसरेके दान, लाभ, भोग और उपभोग आदिमें विघ्न करना, ज्ञानका प्रतिषेध करना और धर्ममें विघ्न करनेवाले कार्य करना इत्यादि कार्य अन्तराय कर्मके आस्रवके कारण होते है ॥४७–५०॥

आठों कर्मोंमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म तो पापरूप ही हैं। शेष चार कर्मोंमेंसे सातावेदनीय, देव मनुष्यादि, शुभ आयु, उच्चगोत्र और शुभनामकर्म पुण्यरूप है और असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नामकर्म और नीचगोत्रकर्म पापरूप हैं।

अब आस्रवका उपसंहार करते हैं—

व्रतात्किलास्रवेत्पुण्यं पापं तु पुनरव्रतात् ।
संक्षिप्यास्रवमित्येवं चिन्त्यतेऽतो व्रताव्रतम् ॥५१॥

व्रत धारण करनेसे पुण्यकर्मका आस्रव होता है और अव्रत-सेवनसे पापकर्मका आस्रव होता है। संक्षेपमें आस्रवतत्त्वका वर्णन इतना ही है। अतः आगे व्रत और अव्रतका विचार करते हैं॥५१॥

व्रतका स्वरूप

हिंसाया अनृताच्चैव स्तेयादब्रह्मतस्तथा ।
परिग्रहाच्च विरतिः कथयन्ति व्रतं जिनाः ॥५२॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहसे विरत होनेको जिन भगवान्ने व्रत कहा है ॥५२॥

अव्रतका स्वरूप

पञ्चपापप्रवृत्तिश्च पञ्चेन्द्रियार्थसेवनम् ।
अनिग्रहः कषायाणां जिनैरव्रतमुच्यते ॥५३॥

हिंसादि पाँच पापोंमें प्रवृत्ति करना, पाँचों इन्द्रियोंके विषयों का सेवन करना और क्रोधादि कषायोंका नहीं जीतना, इसे जिन भगवान्ने अव्रत कहा है ॥५३॥

व्रतोंका विशेष वर्णन चौथे और पाँचवें अध्यायमें किया जा चुका है, इसलिए यहाँ नहीं करके आस्रवतत्त्वका वर्णन समाप्त करते हैं। अन्तमें इतना कहना आवश्यक है और यही आस्रवतत्त्वके वर्णनका फल है कि बुद्धिमान् पुरुष उक्त कथनको भली भांति जानकर बुरे कामोंसे विरक्त हो कर शुभकार्यमें प्रवृत्त हों।

आस्रवतत्त्वकी विशेष जानकारीके लिए तत्त्वार्थसूत्रका छठा अध्याय और उसकी सर्वार्थसिद्धि राजवार्त्तिक आदि टीकाओंको देखना चाहिए।

इस प्रकार आस्रवतत्त्वका वर्णन करने वाला
नवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

● दशम अध्याय : संक्षिप्त सार ●

पिछले अध्यायमें कर्मोंके आनेके कारणोंका वर्णन किया गया है। उन कारणोंसे कर्म-परमाणु चारों ओरसे खिंच कर आत्माके भीतर प्रवेश करते हैं। उनका आत्म-प्रदेशोंके साथ एकमेक होकर मेल-मिलाप हो जाता है उसे ही बन्ध कहते हैं। कर्मोंका यह बन्ध चार प्रकारका होता है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। आनेवाले कर्म-परमाणुओंमें जो ज्ञान, दर्शन सुखादिके घातने रूप अनेक प्रकारका स्वभाव पड़ता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। वे कर्म-परमाणु जितने समय तक आत्माके साथ सम्बद्ध रहेंगे, उस कालकी सीमाको स्थितिबन्ध कहते हैं। उनमें तीव्र या मन्द रूपसे फल देनेकी जो हीनाधिक शक्ति पड़ती है, उसे अनुभाग बन्ध कहते हैं। तथा आनेवाले कर्म-परमाणुओंका आठों कर्मोंमें जो विभाज़न होता है, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्धका कारण योग अर्थात् मन, वचन, कायकी चंचलता है, तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका कारण कषाय है। योग और कषायकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार ही उक्त बन्धोंमें हीनाधिकता होती है। कर्मके इन्हीं चारों प्रकारके बन्धोंका इस अध्यायमें विवेचन किया गया है। अन्तमें आठों कर्मोंकी १४८ प्रकृतियोंका पुण्य और पाप रूपसे विभाग बतलाया गया है।

दशम अध्याय

कर्मबन्धके कारण

बन्धस्य हेतवः पञ्च स्युर्मिथ्यात्वमसंयमः ।
प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदिताः ॥१॥

जिन भगवान्‌ने मिथ्यादर्शन, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके कारण कहे हैं ॥१॥

ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च ।
आज्ञानिकञ्च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत् ॥२॥

अतत्त्वोंके श्रद्धानको मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन कहते हैं। उसके पाँच भेद है—एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, विनय-मिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व और अज्ञानमिथ्यात्व ॥२॥

भावार्थ—वस्तुके अनेक धर्मात्मक होने पर भी उसे एक धर्म रूप मानना, द्रव्यसे गुणको सर्वथा भिन्न मानना, यह एकान्त मिथ्या-त्व है। सग्रन्थ साधुको भी निर्ग्रन्थ मानना, हिंसामय अधर्मको भी धर्म समझना और अदेवको भी सुदेव मानना विपरीत मिथ्यात्व है। सभी देव-कुदेवकी, सुगुरु-कुगुरुकी और धर्म-अधर्मकी बराबर समान विनय करना सो विनयमिथ्यात्व है। अहिंसामय जैनधर्म सच्चा है कि नहीं—इस प्रकार बुद्धिकी द्विविधाको संशयमिथ्यात्व कहते हैं। हिताहित विवेकका अभाव होना अथवा पशुबन्धको धर्म मानना अज्ञानमिथ्यात्व है।

असंयमका स्वरूप और उसके भेद

प्रवृत्तिरिन्द्रियार्थेषु पञ्चपापनिषेवणम् ।
संयमस्य परित्यागः प्रोच्यतेऽविरतिर्बुधैः ॥३॥
षड्जीवकायपञ्चाक्षमनोविषयभेदतः ।
कथितो द्वादशविधः सर्वविद्भिरसंयमः ॥४॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्ति करना, पाँच पापोंका सेवन करना और संयमका धारण नहीं करना, इसे विद्वानोंने अविरति या असंयम कहा है। इस अविरतिरूप असंयमके छह प्रकारके जीवोंकी विराधनाकी अपेक्षा तथा पाँच इन्द्रियों और मनके विषय सेवनकी अपेक्षा सर्वज्ञ देवने बारह भेद कहे हैं ॥३-४॥

शुद्ध्यष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादिदशलक्षणे ।
योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्त्तितः ॥५॥

आठ प्रकारकी शुद्धियोंके करनेमें तथा उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्मके पालनमें उत्साहके नहीं होनेको प्रमाद कहते हैं। इस प्रमादके द्वारा जीव प्रमत्त होते हैं और अपने शुद्ध स्वरूपसे च्युत होते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, भोजनशुद्धि, ईर्याशुद्धि, शय्याशुद्धि, व्युत्सर्गशुद्धि और विनयशुद्धि, ये आठ प्रकारकी शुद्धियाँ होती हैं। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्यसंयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश प्रकारके धर्म कहे गये हैं।

ये चारित्रपरीणामं कषन्ति शिवकारणम् ।
क्रुन्मानवञ्चनालोभास्ते कषायाश्चतुर्विधाः ॥६॥

जो मोक्षके कारणभूत चारित्र धारण करनेके परिणाम न होने

देवें, और आत्माके स्वरूपको कषें, दुःख देवें, उन्हें कषाय कहते हैं : वे कषाय मूलमें चार प्रकारकी है—क्रोध, मान, माया और लोभ ॥६॥

कषायोंके उत्तरभेद

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः ।
ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविंशतिः ॥७॥

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये सोलह कषाय है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय हैं, इस प्रकार पच्चीस कषाय होती है। यहाँपर ईषत् या अल्प कषायको नोकषाय जानना चाहिए ॥७॥

विशेषार्थ—जो कषाय सम्यग्दर्शनका घात करे, उसे अनन्तानुबन्धी कहते है। जो कषाय श्रावकके व्रतोंका घात करे उसे अप्रत्याख्यानावरणीय कहते है। जो कषाय मुनिव्रतका घात करे, उसे प्रत्याख्यानावरणीय कहते है और जो यथाख्यात चारित्रका घात करे, उसे संज्वलन कषाय कहते है।

कायवाङ्मनसां कर्म योगः शास्त्रे प्ररूपितः ।
आस्रवन्ति च कर्माणि यस्यालम्बनपूर्वकम् ॥८॥
चत्वारो हि मनोयोगाः वाग्योगानां चतुष्टयम् ।
पञ्च द्वौ च वपुर्योगाः योगाः पञ्चदशोदिताः ॥९॥

शास्त्रोंमें मन-वचन-कायकी क्रियाको योग कहते हैं, इस योगके आश्रयसे ही कर्म आते हैं। चार मनोयोग, चार वचनयोग

और सात काययोग इस प्रकार योगके पन्द्रह भेद कहे गये हैं ॥८-९॥

बन्धका स्वरूप

यज्जीवः सकषायत्वात्कर्मणो योग्यपुद्गलान् ।
आदत्ते सर्वतो योगात् स बन्धः कथितो जिनैः ॥१०॥

यह जीव कषाय-सहित होनेसे कर्मके योग्य पुद्गलोंको चारों ओरसे ग्रहण करता है, इसे जिन भगवान्‌ने बन्ध कहा है ॥१०॥

बन्धके भेद

प्रकृति-स्थितिबन्धौ द्वौ, बन्धश्चानुभवाभिधः ।
तथा प्रदेशबन्धश्च ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः ॥११॥

उस कर्मके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्ध ॥११॥

भावार्थ—कर्मोंमें ज्ञान, दर्शन आदिको घात करनेका जो स्वभाव पड़ता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। वह कर्म जितने समय तक आत्माके साथ रहेगा, उस कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध कहते हैं। शुभ-अशुभ फलके देनेको अनुभागबन्ध कहते हैं। आये हुए कर्म पिण्डमें ज्ञानावरणीय कर्मका यह विभाग है, दर्शनावरणीय कर्मका यह विभाग है, इस प्रकार कर्म-प्रदेशोंके विभाजनको प्रदेश-बन्ध कहते हैं।

ज्ञान-दर्शनयो रोधौ वेद्यं मोहायुषी तथा ।
नामगोत्रान्तरायौ च मूलप्रकृतयः स्मृताः ॥१२॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम,

गोत्र और अन्तराय ये आठ प्रकृतिबन्धके भेद हैं, इन्हें कर्मोंकी मूल प्रकृतियाँ जानना चाहिए ॥१२॥

अब आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ कहते हैं—

अन्याः पञ्च नव द्वे च तथाऽष्टाविंशतिः क्रमात् ।
चतस्रश्च त्रिसंयुक्ता नवतिर्द्वे च पञ्च च ॥१३॥

उक्त आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तेरानवे, दो और पाँच जानना चाहिए ॥१३॥

इन आठों कर्मोंकी १४८ उत्तर प्रकृतियोंका विस्तृत विवेचन तत्त्वार्थसूत्रके आठवें अध्यायसे जानना चाहिए ।

इस प्रकार प्रकृतिबन्धका वर्णन समाप्त हुआ ।

अब स्थितिबन्धका वर्णन करते है—

कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति

वेद्यान्तराययोर्ज्ञानदृगावरणयोस्तथा ।
कोटीकोट्यः स्मृतास्त्रिंशत्सागराणां परा स्थितिः ॥१४॥
मोहस्य सप्ततिस्ताः स्युर्विंशतिर्नामगोत्रयोः ।
आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागराणां परा स्थितिः ॥१५॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है । मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है । नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति वीस कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण है और आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तैतीस सागरोपम है ॥१४–१५॥

कर्मोंकी जघन्य स्थिति

मुहूर्ता द्वादश ज्ञेया वेद्येऽष्टौ नाम-गोत्रयोः ।
स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तस्तु जघन्या शेषकर्मसु ॥१६॥

वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त्त और शेष पाँच कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जानना चाहिए ॥१६॥

इस प्रकार स्थितिबन्धका वर्णन समाप्त हुआ।

अब अनुभागबन्धका वर्णन करते हैं—

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम्।
असावनुभवो ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः ॥१७॥

पूर्व-संचित शुभ और अशुभ कर्मोंका जो विपाक अर्थात् फल मिलता है, उसे अनुभागबन्ध जानना चाहिए। वह अनुभागबन्ध यथानाम होता है अर्थात् जिस प्रकृतिका जैसा नाम है, उसके अनुसार ही वह अपने फलको देती है ॥१७॥

भावार्थ—जैसे क्रोध कषायका उदय क्रोधरूप फलको देगा, हास्यकर्मका उदय हँसी उत्पन्न करेगा और साताकर्मका उदय सुखके साधन मिलायगा। इस अनुभागबन्धके सर्वघाति और देशघाति ऐसे दो भेद हैं, उनका विस्तृत वर्णन गो० कर्मकाण्डसे जानना चाहिए।

इस प्रकार अनुभागबन्धका वर्णन समाप्त हुआ।

अब प्रदेशबन्धका वर्णन करते हैं।

सर्वकर्मप्रकृत्यर्हान् सर्वेष्वपि भवेषु यत्।
द्विविधान् पुद्गलस्कन्धान् सूक्ष्मान् योगविशेषतः ॥१८॥
सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान्।
आत्मसात्कुरुते जीवः स प्रदेशोऽभिधीयते ॥१९॥

सर्व कर्म प्रकृतियोंके योग्य, सर्व ही भवोंमें फलके देने वाले, दो प्रकारके सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धोंको योगकी विशेषतासे ग्रहण कर

आत्माके सर्व प्रदेशोंपर अनन्तानन्त प्रदेशोंकी संख्यामें जीव जिनको आत्मसात् करता है उन प्रदेशोंके बन्धको प्रदेशबन्ध कहते है ॥१८-१९॥

कर्मोंमें पुण्य-पापका विभाग

शुभाशुभोपयोगाख्यनिमित्तो द्विविधस्तथा ।
पुण्यपापतया द्वेधा सर्वकर्म प्रभिद्यते ॥२०॥
उच्चैर्गोत्रं शुभायूंषि सद्वेद्यं शुभनाम च ।
द्विचत्वारिंशदित्येवं पुण्यप्रकृतयः स्मृताः ॥२१॥
नीचैर्गोत्रमसद्वेद्यं श्वभ्रायुर्नाम चाशुभम् ।
द्व्यशीतिर्घातिभिः सार्धं पापप्रकृतयः स्मृताः ॥२२॥

शुभोपयोग और अशुभोपयोगके भेदसे योग दो प्रकारका माना गया है, उनके ही कारण सभी कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो विभागोंमें विभक्त हो जाते है। उच्च गोत्र, शुभ आयु, साता-वेदनीय और शुभ नामकर्म इनकी व्यालीस उत्तर प्रकृतियाँ पुण्यरूप मानी गई है। नीचगोत्र, असातावेदनीय, नारकायु, अशुभ नामकर्मकी ३५ और घातिया कर्मोंकी ४७ ये सब ८२ बयासी प्रकृतियाँ पापरूप मानी गई है ॥२०-२२॥

बन्धतत्त्वके विशेष ज्ञानके लिए तत्त्वार्थसूत्रका आठवाँ अध्याय और उसकी संस्कृत-हिन्दी टीकाओंको देखना चाहिए।

इस प्रकार बन्धतत्त्वका वर्णन करनेवाला दशवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

● एकादश अध्याय : संक्षिप्त सार ●

कर्मोंके आस्रव रोकनेको संवर कहते हैं। कर्म-परमाणु आत्माकी ओर आकृष्ट ही न हों, या आत्मामें प्रवेश न कर सकें, इसके लिए जिन उपायोंके आलम्बनकी आवश्यकता होती है, उन्हें संवरका कारण कहा जाता है। वे पाँच प्रकारके हैं—गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र। मन, वचन, कायकी चंचलताके रोकनेको गुप्ति कहते हैं। कर्मोंके आस्रवको रोकनेके लिए यही सर्व-श्रेष्ठ उपाय या प्रधान कारण है। किन्तु संसारी जीवकी प्रवृत्ति पुरातन संस्कारोंके कारण कुछ ऐसी विलक्षण बन रही है कि मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियोंका एकदम रोकना संभव नहीं है, अतः उसके लिए मध्यम मार्गरूप शेष चार उपायोंका आलम्बन आवश्यक होता है। चलने-फिरने, उठने-बैठने और खान-पानादिमें जीवरक्षाकी दृष्टिसे जो सावधानी रखी जाती है, उसे समिति कहते हैं। विषयकषायोंके जीतनेके उपायोंको धर्म कहते हैं। धर्म-धारण करनेके लिए या धारण किये हुए धर्मकी स्थिरताके लिए जो मानसिक तैयारी की जाती है, या संसार, देह और भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न करनेके लिए जो भावना की जाती है उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं। आनेवाले संकटोंके सहन करनेको परीषहजय कहते हैं और सदाचारके पालन करने तथा उसे उत्तरोत्तर विकसित करते रहनेको चारित्र कहते हैं। प्रस्तुत अध्यायमें संवरके इन्हीं पाँचों कारणोंका उनके उत्तर भेदोंके साथ निरूपण किया गया है।

एकादश अध्याय

संवरतत्त्वका स्वरूप

कर्मबन्धनहेतूनामात्मनः सति सम्भवे ।
आस्रवस्य निरोधो यः स जिनैः संवरः स्मृतः ॥१॥

कर्म-बन्धके कारण जो मिथ्यादर्शन, अविरति आदि बन्ध तत्त्वके वर्णनमें बतला आये हैं, उनका आत्मामें सद्भाव संभव होने पर उनके निमित्तसे जो कर्मोंका आस्रव होता है, उसके निरोधको जिन भगवान्ने संवर कहा है ॥१॥

गुप्तिः समितयो धर्मः परीषहजयस्तपः ।
अनुप्रेक्षाश्च चारित्रं सन्ति संवरहेतवः ॥२॥

गुप्ति, समिति, धर्म, परीषह-जय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र, ये संवरके कारण बतलाये गये हैं ॥२॥

गुप्तिका स्वरूप और भेद

योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिरित्यभिधीयते ।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्च सा त्रिधा ॥३॥

मन, वचन और काय इन तीनों योगोंके सम्यक् विग्रहको गुप्ति कहते है । वह गुप्ति तीन प्रकारकी है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ॥३॥

भावार्थ—मानसिक संकल्प-विकल्पके अभावको मनोगुप्ति कहते है । वाचनिक विकथा-संलाप आदि वचन-जालके निरोधको वचनगुप्ति कहते हैं । शारीरिक हलन-चलन, गमनागमनादिके

निग्रहको कायगुप्ति कहते हैं। कहनेका सार यह कि मन-वचन-कायसे सर्व सांसारिक विकल्प-जालको दूर कर शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थिर होना गुप्ति है।

तत्र प्रवर्तमानस्य योगानां निग्रहे सति।

तन्निमित्तास्रवाभावात्सद्यो भवति संवरः ॥४॥

इन गुप्तियोंमें प्रवर्तमान पुरुषके मन-वचन काय रूप तीनों योगोंके निग्रह हो जाने पर योगोंके निमित्तसे होने वाले आस्रवका अभाव हो जाता है, जिससे कि कर्मोंका आना रुक जानेसे शीघ्र संवर होता है ॥४॥

समितियोंके भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गभेदतः।

पञ्चगुप्तावशक्तस्य साधोः समितयः स्मृताः ॥५॥

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण-समिति और उत्सर्गसमिति ये पाँच समितियां कही गई हैं। जब साधु गुप्तियोंके धारण करनेमें असमर्थ होता है, तब वह समितियों को धारण करता है, अर्थात् उनका आश्रय लेता है ॥५॥

भावार्थ—यद्यपि कर्मोंके आस्रवको पूर्णतः रोकनेमें समर्थ गुप्ति ही है, परन्तु गुप्तियोंमें साधुके लिए एक अन्तर्मुहूर्त्तसे अधिक रहना अशक्य है, अतः उस समय साधु अपने खान-पान, गमनागमन, वचन-व्यवहार आदिको अत्यन्त सावधानीसे संयम पूर्वक करता है, बस, उसका यह संयम पूर्वक व्यवहार ही समिति कहलाता है। इन पाँचों समितियोंका मुनिधर्मके वर्णन करते समय विस्तृत वर्णन कर आये हैं।

दश धर्म

क्षमा मृद्वृजुते शौचं ससत्यं संयमस्तपः ।
त्यागोऽकिञ्चनता ब्रह्मधर्मो दशविधः स्मृतः ॥६॥

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य, यह दश प्रकारका धर्म माना गया है ॥६॥

१ उत्तम क्षमा

क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानामत्यन्तं सति सम्भवे ।
आक्रोश-ताडनादीनां कालुष्यो परमः क्षमा ॥७॥

क्रोधकी उत्पत्तिके कारणभूत आक्रोश, ताड़न, मारण आदिके अत्यन्त सम्भव होनेपर भी, अर्थात् अपने ऊपर उक्त आपत्तियोंके आजानेपर भी चित्तमें कलुषता या विकार भावको उत्पन्न नहीं होने देना उत्तम क्षमा है ॥७॥

२ मार्दवधर्मका वर्णन

अभावो योऽभिमानस्य परैः परिभवे कृते ।
जात्यादीनामनावेशान्मदानां मार्दवं हि तत् ॥८॥

दूसरेके द्वारा अपना अपमान भी किये जाने पर अभिमान नहीं करना और जाति, कुल आदि मदोंको मनमें भी नहीं लाना सो मार्दव धर्म है ॥८॥

३ आर्जवधर्म

वाङ्मनःकाययोगानामवक्रत्वं तदार्जवम् ।

मन, वचन और काय इन तीनों योगोंकी कुटिलता रहित सरल परिणति रखना आर्जव धर्म है ।

४ शौचधर्म

परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदतः ।
चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते ॥९॥

परिभोग, उपभोग, जीवित और इन्द्रियके भेदरूप चार प्रकारके लोभकी अत्यन्त निवृत्तिको शौचधर्म कहा है ॥९॥

विशेषार्थ—खान-पानकी वस्तुओंको परिभोग और वस्त्र, भवन शय्यादिको उपभोग कहते हैं। लोभ या तो उपभोग-परिभोगकी वस्तुओंका होता है या जीनेका और इन्द्रियोंके विषयसेवनका। अतः इन चारों ही प्रकारके लोभके त्याग करने पर मनुष्यके हृदयमें पूर्ण पवित्रता आती है।

५ सत्यधर्म

ज्ञानचारित्रशिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते ।
धर्मोपबृंहणार्थं यत्साधुसत्यं तदुच्यते ॥१०॥

आत्मा-धर्मकी वृद्धिके लिए जो ज्ञान, चारित्र और प्रायश्चित्त आदिमें सचाई रखी जाती है, उसे उत्तम सत्य धर्म कहा है ॥१०॥

६ संयमधर्म

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं प्राणिनां वधवर्जनम् ।
समितौ वर्तमानस्य मुनेर्भवति संयमः ॥११॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य धारण करना और प्राणियोंकी हिंसाका त्याग करना संयम है। यह धर्म समितिमें प्रवर्तमान मुनिके जब होता है तब वह उत्तम संयम कहलाता है ॥११॥

७ तपोधर्म

परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम् ।

कर्मोंके क्षय करनेके लिए विना किसी सांसारिक प्रलोभनके जो तपश्चर्या की जाती है, वह उत्तम तपोधर्म माना गया है ।

८ त्यागधर्म

त्यागस्तु धर्मशास्त्रादिविश्राणनमुदाहृतम् ॥१२॥

धर्मका उपदेश देना, शास्त्रका वितरण करना और बुरी प्रवृत्तियोंका त्याग कराना सो त्यागधर्म माना गया है ॥१२॥

९ आकिञ्चन्यधर्म

ममेदमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषुचित् ।
अभिसन्धिनिवृत्तिर्या तदाकिञ्चन्यमुच्यते ॥१३॥

धारण किये हुए शरीर, पीछी, कमण्डलु, शास्त्र आदिमें 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायकी सर्वथा निवृत्तिको आकिंचन्य धर्म कहा गया है ॥१३॥

१० ब्रह्मचर्यधर्म

स्त्रीसंसक्तशय्यादेरनुभूताङ्गनास्मृतेः ।
तत्कथायाः श्रुतेश्च स्याद् ब्रह्मचर्यं हि वर्जनात् ॥१४॥

स्त्रियोंसे संसक्त शय्यादिका त्याग करना, पहले भोगी हुई स्त्रियोंके स्मरणका त्याग करना और स्त्रियोंकी राग-वर्धक कथाओंके सुननेका त्याग करना सो ब्रह्मचर्यधर्म है ॥१४॥

इति प्रवर्तमानस्य धर्मे भवति संवरः ।
तद्विपक्षनिमित्तस्य कर्मणोऽनास्रवे सति ॥१५॥

इस प्रकार जो दश प्रकारके धर्ममें प्रवृत्ति करता है, उसके

धर्मोके प्रतिपक्षी क्रोधादि कषायोंके आस्रव रुक जानेसे संवर होता है ॥१५॥

बाईस परीषह-जय

क्षुत्पिपासा च शीतोष्ण-दंश-मत्कुणनग्नते ।
अरतिः स्त्री च चर्या च निषद्या शयनं तथा ॥१६॥

आक्रोशश्च वधश्चैव याचनालाभयोर्द्वयम् ।
रोगश्च तृणसंस्पर्शस्तथा च मलधारणम् ॥१७॥

असत्कारपुरस्कारं प्रज्ञाज्ञानमदर्शनम् ।
इति द्वाविंशतिः सम्यक् सोढव्याः स्युः परीषहाः ॥१८॥

१ भूखकी वेदना सहना, २ प्यासकी वेदना सहना, ३ शीत की वेदना सहना, ४ उष्णताकी वेदना सहना, ५ डांस मच्छर, खटमल आदिकी वेदना सहना, ६ नग्नपनेका दुःख सहना, ७ अरुचिकर या अप्रिय पदार्थके संयोग मिलने पर उसका दुःख सहना, ८ स्त्रियोंके द्वारा उपद्रव आजाने पर भी अडोल-अकम्प बने रहकर ब्रह्मचर्यकी रक्षा करते हुए स्त्रीपरीषहका जीतना, ९चलनेमें कंकर-पत्थर आदिकी बाधाका सहना, १० कंकरीली पथरीली भूमिपर बैठनेका दुःख सहना, ११ भूमिपर सोनेका दुःख सहना, १२ दूसरेके द्वारा गाली-गलौज करने पर भी शान्त बने रहना, १३ दूसरेके द्वारा मारण-ताडन आदि होने पर भी शान्त रहना, १४ अत्यन्त भूख प्यास लगने पर भी किसीसे कुछ नहीं माँगना, १५ भोजनके अलाभमें भी सन्तुष्ट रहना, १६ रोग आदि हो जाने पर भी सहर्ष उसकी वेदनाको सहना, १७ चलते-फिरते घास, कास आदि तीखे पदार्थोंके चुभनेका दुःख सहन करना,

१८ शरीरके मलसे संलिप्त हो जाने पर भी जीवरक्षाके अभिप्रायसे स्नान नहीं करना, १९ आदर-सत्कार नहीं होने पर और अपमान होने पर भी उसका विचार तक नहीं करना, २० अवधिज्ञान आदि हो जाने पर भी उसका मद नहीं करना, २१ अवधिज्ञान आदिके नहीं होने पर भी चित्तको खेद-खिन्न नहीं करना, २२ भयंकर कष्ट आने पर और व्रतादिकसे भ्रष्ट होनेके अवसर आने पर भी सम्यग्दर्शनसे च्युत न होना और अपने व्रतोंको बराबर स्थिर रखना, इस प्रकार ये बाईस परीषहोंको अपने स्वीकृत किये व्रतोंके सम्यक् परिपालनके निमित्त सहर्ष सहन करना चाहिए ॥१६–१८॥

संवरो हि भवत्येतानसंक्लिष्टेन चेतसा ।
सहमानस्य रागादिनिमित्तास्रवरोधतः ॥१९॥

उक्त बाईस परीषहोंको संक्लेश-रहित चित्तसे सहनेवाले साधुके रागादि कारणोंके द्वारा होनेवाले कर्मोंका आस्रव रुक जानेसे महान् संवर होता है और कर्मोंकी निर्जरा भी होती है, इसलिए साधुजन सहर्ष परीषहोंको सहन करते हैं ॥१९॥

तपो हि निर्जराहेतुरुत्तरत्र प्रचर्च्यते ।
संवरस्यापि विद्वांसो विदुस्तन्मुखकारणम् ॥२०॥

तप निर्जराका कारण है ऐसा आगे निर्जरा प्रकरणमें कहेंगे, परन्तु विद्वज्जनोंने तपको संवरका भी प्रधान कारण कहा है ॥२०॥

बारह अनुप्रेक्षाएँ

अनित्यं शरणाभावो भवश्चैकत्वमन्यता ।
अशौचमास्रवश्चैव संवरो निर्जरा तथा ॥२१॥
लोको दुर्लभता बोधेः स्वाख्यातत्वं वृषस्य च ।
अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्त्तिताः ॥२२॥

१ अनित्य भावना, २ अशरण भावना, ३ संसार भावना ४ एकत्वभावना, ५ अन्यत्व भावना, ६ अशुचि भावना, ७ आस्रव भावना, ८ संवर भावना, ९ निर्जरा भावना, १० लोक भावना, ११ बोधि-दुर्लभ भावना और १२ धर्म-भावना, ये बारह अनुप्रेक्षा कहलाती हैं, इनका सदा चिन्तवन करना चाहिए ॥२१-२२॥

भावार्थ—संसार और शरीर आदिके स्वरूपका चिन्तवन करने को अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं।

१ अनित्य-भावना

क्रोडीकरोति प्रथमं जातजन्तुमनित्यता।
धात्री च जननी पश्चाद्धिग्मानुष्यमसारकम् ॥२३॥

इस संसारमें उत्पन्न हुए प्राणीको अनित्यता सबसे पहले अपनी गोदीमें लेती है, धाय और माता पीछे। ऐसे इस असार मनुष्य भवको धिक्कार है। ऐसा विचार करते हुए सांसारिक पदार्थोंसे ममता त्यागना अनित्यानुप्रेक्षा है ॥२३॥

२ अशरण-भावना

उपघ्रातस्य घोरेण मृत्युव्याघ्रेण देहिनः।
देवा अपि न जायन्ते शरणं किमु मानवाः ॥२४॥

मृत्युरूपी भयानक व्याघ्रसे आक्रान्त प्राणीको बचानेके लिए देवता भी शरण नहीं हैं, तो फिर बेचारे दीन मानवोंकी तो कथा ही क्या है, ऐसा विचार करना अशरण-भावना है ॥२४॥

३ संसार-भावना

चतुर्गतिघटीयन्त्रे सन्निवेश्य घटीमिव।
आत्मानं भ्रमयत्येव हा कष्टं कर्मकच्छिकः ॥२५॥

यह कर्मरूपी काछी (खेती करने वाला किसान) चतुर्गतिरूपी घटीयंत्रमें (राहटमें) घड़ीके समान इस प्राणीको जोड़कर उसे निरन्तर परिभ्रमण कराता रहता है, ऐसा विचार करना संसारानुप्रेक्षा है ॥२५॥

४ एकत्व-भावना

कस्यापत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी ।
एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ॥२६॥

इस संसारमें कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता है, कौन किसकी माता है और कौन किसकी स्त्री है ? यह जीव इस दुस्तर संसार-समुद्रमें अकेला ही भ्रमण करता रहता है, ऐसा चिन्तवन करना एकत्वभावना है ॥२६॥

५ अन्यत्व-भावना

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम् ।
हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ॥२७॥

यह सचेतन जीव भिन्न है, और यह अचेतन शरीर भिन्न है, ऐसा स्पष्ट अनुभव होते हुए हाय, बड़े कष्टकी बात है कि मनुष्य शरीर और आत्माकी भिन्नताको नहीं समझते है, ऐसा चिन्तवन करना अन्यत्व भावना है ॥२७॥

६ अशुचि-भावना

नानाकृमिशताकीर्णे दुर्गन्धे मलपूरिते ।
आत्मनश्च परेषां च क्व शुचित्वं शरीरके ॥२८॥

नाना जातिके सहस्रों कीड़ोंसे व्याप्त, दुर्गन्धित और मल-मूत्र से पूरित अपने या पराये शरीरमें कहाँ पवित्रता है, ऐसा चिन्तवन करते हुए शरीरसे विरक्त रहना अशुचि भावना है ॥२८॥

७ आस्रव-भावना

कर्माम्भोभिः प्रपूर्णोऽसौ योगरन्ध्रसमाहृतैः ।
हा दुरन्ते भवाम्भोधौ जीवो मज्जति पोतवत् ॥२९॥

योगरूपी छिद्रोंसे आने वाले कर्मरूप जलसे भरा हुआ यह जीव जहाजके समान इस दुरन्त संसाररूपी समुद्रमें डूब जाता है, यह महान् कष्टकी बात है। ऐसा विचार करते हुए कर्मोंके आस्रव से बचनेकी निरन्तर चेष्टा करते रहना आस्रव-भावना है ॥२९॥

८ संवर-भावना

योगद्वाराणि रुन्धन्तः कपाटैरिव गुप्तिभिः ।
आपतद्भिर्न बाध्यन्ते धन्याः कर्मभिरुत्कटैः ॥३०॥

किवाड़ोंके समान गुप्तियोंके द्वारा योगरूपी द्वारोंको बन्दकर धन्य पुरुष आने वाले विकट कर्मोंके द्वारा नहीं पीड़ित होते हैं, ऐसा चिन्तवन करते हुए संवर करनेके लिए निरन्तर उद्यत रहना संवर-भावना है ॥३०॥

९ निर्जरा-भावना

गाढोपजीर्यते यद्वदामदोषो विसर्पणात् ।
तद्वन्निर्जीर्यते कर्म तपसा पूर्वसञ्चितम् ॥३१॥

जिस प्रकार आमाशयमें संचित अपक्व मल अनशन आदिके द्वारा परिपक्व होकर निकल जाता है, उसी प्रकार अनेक पूर्व भवोंसे संचित कर्म अनशन-आदि तपोंके द्वारा झड़ जाता है, ऐसा चिन्तवन करते हुए सदा तप धारण करनेको उत्सुक रहना निर्जरा भावना है ॥३१॥

१० लोक-भावना

नित्याध्वगेन जीवेन भ्रमता लोकवर्त्मनि ।
वसतिस्थानवत्कानि कुलान्यध्युषितानि न ॥३२॥

इस लोकरूपी मार्गमें निरन्तर परिभ्रमण करते हुए सतत-पथिक इस जीवने वसति स्थानोंके (पड़ावोंके) समान किन-किन कुलोंको बार-बार नहीं सेवन किया है ? अर्थात् इस सारे लोकमें अनन्त बार जन्म-मरण किया है, ऐसा चिन्तवन करके लोकसे भय-भीत हो उससे छूटनेका उपाय करते रहना लोक-भावना है ॥३२॥

११ बोधिदुर्लभ-भावना

मोक्षारोहणनिःश्रेणिः कल्याणानां परम्परा ।
अहो कष्टं भवाम्भोधौ बोधिर्जीवस्य दुर्लभा ॥३३॥

मोक्षरूपी महल पर चढ़नेके लिए नसेनी स्वरूप और कल्याणोंकी परम्परारूप यह बोधिकी प्राप्ति होना, इस संसार-समुद्रमें अहो कष्ट है, कि जीवको अत्यन्त दुर्लभ है । अर्थात् अन्य सब वस्तुओंकी प्राप्ति संसारमें एक वार सुलभ है, परन्तु सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा विचार कर निरन्तर सच्चे आत्मिक ज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए, यह बोधिदुर्लभ भावना है ॥३३॥

१२ धर्म-भावना

क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः स्वाख्यातो जिनपुङ्गवैः ।
अयमालम्बनस्तम्भो भवाम्भोधौ निमज्जताम् ॥३४॥

जिनभगवान्ने जो उत्तम क्षमादिरूप दश प्रकारके लक्षणवाला धर्म कहा है, वही इस संसार-समुद्रमें डूबनेवाले प्राणियोंके आश्रयके

लिए स्तम्भके सदृश है, ऐसा विचार करते हुए सदा धर्म धारण करनेमें प्रयत्नशील रहना धर्म-भावना है ॥३४॥

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः ।
ततो हि निःप्रमादस्य महान् भवति संवरः ॥३५॥

इस प्रकार उक्त बारह भावनाओंका चिन्तन करते हुए साधुके धर्म-धारण करनेमें महान् उद्यम होता है और प्रमाद-रहित अवस्था प्रकट होती है। इस प्रकार बारह भावनाओंके चिन्तनसे कर्मोंका महान् संवर होता है ॥३५॥

अब आगे संवरके कारणभूत चारित्रका वर्णन करते हैं—

वृत्तं सामयिकं ज्ञेयं छेदोपस्थापनं तथा ।
परिहारं च सूक्ष्मं च यथाख्यातं च पञ्चमम् ॥३६॥

१ सामायिकचारित्र, २ छेदोपस्थापनाचारित्र, ३ परिहार-विशुद्धिचारित्र, ४ सूक्ष्मसाम्परायचारित्र और ५ यथाख्यातचारित्र, ये चारित्रके पाँच भेद हैं ॥३६॥

१ सामायिकचारित्रका स्वरूप

प्रत्याख्यानमभेदेन सर्वसावद्यकर्मणः ।
नित्यं नियतकालं वा वृत्तं सामयिकं स्मृतम् ॥३७॥

सर्व सावद्य कर्मका अभेदरूपसे सर्वदाके लिए या नियत कालके लिए त्याग करना सामायिक-चारित्र है ॥३७॥

भावार्थ—जीवन-पर्यन्तके लिए पाँचों पापोंका त्याग करनेके पश्चात् सर्व सावद्य कर्मोंका पुनः सामूहिक रूपसे त्यागकर निर्विकल्प अवस्थाको नियत समय तक धारण करना सामायिक चारित्र कहलाता है।

२ छेदोपस्थापना चारित्र

यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः ।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत् ॥३८॥

जब हिंसादिके भेदसे सावद्य कर्मका त्याग जिया जाता है अथवा व्रतके लोप हो जाने पर पुनः उसे धारण कर जो शुद्धि की जाती है, वह छेदोपस्थापनाचारित्र है ॥३८॥

भावार्थ—छेदोपस्थापनाके आचार्योंने दो अर्थ किये हैं। छेद नाम भेदका है। जब साधुके यह विकल्प रहता है कि 'मैं इस अहिंसा व्रतको धारण कर रहा हूँ, अथवा सत्य व्रतको धारण कर रहा हूँ तब वह भेद पूर्वक चारित्रका धारण करना कहलाता है और इस लिए इस प्रकारके चारित्रका छेदोपस्थापना नाम हो जाता है। दूसरे अर्थके अनुसार किसी प्रमादादिके निमित्तसे यदि व्रतका छेद (भंग) हो जावे, तो प्रायश्चित्त लेकर पुनः उसके धारण करनेको छेदोपस्थापना चारित्र कहते है। सूत्रकारने उक्त दोनों अर्थोंको एक साथ एक ही श्लोकमें कहा है।

३ परिहारविशुद्धि चारित्र

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि ।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ॥३९॥

शरीर-साधनाके द्वारा विशिष्ट प्रकारसे प्राणिघातका परिहार करते हुए जो विशुद्धि उत्पन्न होती है उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं ॥३९॥

भावार्थ—यह चारित्र हर एक साधुके नहीं होता किन्तु जो तीस वर्षकी अवस्था तक सुख-शान्तिसे भरपूर गृहस्थोंमें आनन्दसे

रहा है, सर्वप्रकारके भोगोपभोगोंको जिसने भोगा है पुनः विरक्त हो दीक्षा लेकर जिसने ७-८ वर्ष तक तीर्थंकर भगवान्‌के चरण-कमलोंके सम्पर्कमें रह कर प्रत्याख्यानशास्त्रका अध्ययन कर प्राणायाम आदि साधनोंसे शरीरको इतना साध लिया है कि उसके चलने-फिरने, खाने-पीने और सोने-बैठने आदिमें जीवहिंसा जरा-सी भी संभव नहीं रहती—ऐसे जीवरक्षामें कुशल साधुके जो चारित्रकी विशुद्धि होती है, उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं। यह चारित्र छठे और सातवें गुणस्थानवर्ती साधुके ही होता है।

४ सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र

कषायेषु प्रशान्तेषु प्रक्षीणेष्वखिलेषु वा ।
स्यात्सूक्ष्मसाम्परायाख्यं सूक्ष्मलोभवतो यतेः ॥४०॥

समस्त कषायोंके प्रशान्त होने पर या प्रक्षीण हो जाने पर सूक्ष्म लोभके धारक साधुके जो चारित्र होता है, वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र कहलाता है ॥४०॥

भावार्थ—यह चारित्र उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणीके दशवें गुणस्थानवर्ती साधुके ही होता है, अन्यके नहीं। दशवें गुणस्थानमें मोहकर्मकी सर्वप्रकृतियाँ या तो उपशान्त हो जाती हैं, या क्षय हो जाती हैं। केवल एक सूक्ष्म लोभ रह जाता है, सो वह भी अन्तर्मुहूर्त्तके भीतर ही उपशान्त या नष्ट हो जाता है। ऐसा दशम गुणस्थानवर्त्ती साधु ही उक्त चारित्रका धारक होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र छठे गुणस्थानसे लेकर नवें गुणस्थान तक होते हैं। यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

५ यथाख्यातचारित्रका स्वरूप

चयाच्चारित्रमोहस्य कात्स्न्येंनोपशमात्तथा ।
यथाख्यातमथाख्यातं चारित्रं पञ्चमं जिनैः ॥४१॥

चारित्र मोहनीयकर्मके समस्तरूपसे उपशम हो जाने पर ग्यारहवें गुणस्थानमें और क्षय हो जाने पर बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें जो चारित्र प्रगट होता है उसे जिन भगवान्‌ने यथाख्यात या अथाख्यात नामका पाँचवाँ चारित्र कहा है ॥४१॥

भावार्थ—यथा अर्थात् जैसा आत्माका स्वभाव आख्यात अर्थात् कहा है, वैसा ही निर्मल स्वभाव प्रगट हो जानेको यथाख्यात-चारित्र कहते है । अथवा अभी तक जो वीतरागता प्रगट नहीं हुई थी, उसके अथ अर्थात् अब प्रगट होनेको अथाख्यातचारित्र कहते हैं । यह सबसे उत्कृष्ट चारित्र है, इसके हो जाने पर चार घातिया कर्मोंका तो पूर्व संवर हो ही जाता है साथ ही तीन अघातिया कर्मोंका आस्रव भी रुक जाता है । केवल एक सातावेदनीय कर्म ही एक समयके लिए नाममात्रको जाता है । अतः यह चारित्र ही संवरका पूर्णतः साधक है ।

सम्यक्चारित्रमित्येतद्यथास्वं चरतो यतेः ।
सर्वास्रवनिरोधः स्यात्ततो भवति संवरः ॥४२॥

उक्त प्रकारके सम्यक्चारित्रको यथायोग्य पालन करते हुए साधुके सर्व कर्मोंके आस्रवका निरोध होता है और उससे परम संवर होता है ॥४२॥

संवर तत्त्वके विशेष परिज्ञानके लिए तत्त्वार्थसूत्रका नवाँ अध्याय और उसकी संस्कृत-हिन्दी टीकाओंको देखना चाहिए ।

इस प्रकार संवरतत्त्वका वर्णन करने वाला ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

• द्वादश अध्याय : संक्षिप्त सार •

संवरसे यद्यपि नवीन कर्मोंका आना रुक जाता है, तथापि पुरातन कर्म तो आत्मामें संचित ही रहते हैं, उन्हें भी दूर करनेके लिए आत्माको महान् प्रयास करना पड़ता है और उस प्रयासके करते हुए भी कर्म-परमाणु एक साथ ही दूर नहीं हो जाते, किन्तु क्रम-क्रमसे दूर होते हैं। कर्मोंके इसी क्रम-क्रमसे दूर होनेको निर्जरा कहते हैं। इस कर्म-निर्जराके लिए जिस महान् प्रयास या पुरुषार्थकी आवश्यकता होती है, उसे तप कहते हैं। शारीरिक तपस्याको बाह्य तप और मानसिक तपस्याको अन्तरंग तप कहते हैं। जैनधर्ममें शारीरिक तपस्याको वहीं तक स्थान या महत्त्व दिया गया है, जहाँ तक कि वह मानसिक तपस्या अर्थात् इच्छा-निरोधके लिए सहायक है। यदि शारीरिक तपस्या करते हुए भी मनुष्य मनकी इच्छाओंका निरोध नहीं कर पाता है, तो उस तपको जैनधर्ममें कोई स्थान नहीं दिया गया है, बल्कि उसे निरर्थक कहा गया है। बाह्य या शारीरिक तप तो अन्तरंग या मानसिक तपकी सिद्धिके लिए ही बतलाया गया है। इसलिए बाह्य तपोंको यथाशक्ति आवश्यकतानुसार करते हुए अन्तरंग तपोंके बढ़ानेके लिए जैनाचार्योंने उपदेश दिया है।

प्रस्तुत अध्यायमें इन्हीं बहिरंग और अन्तरंग तपोंके भेदोंका स्वरूप बतला कर अन्तमें बतलाया गया है कि मानसिक तपोंमें भी सर्वोत्तम तप जो शुक्लध्यान है, वस्तुतः वही कर्म-निर्जराका प्रधान कारण है और उसके द्वारा ही प्रति समय असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा करता हुआ जीव एक अन्तर्मुहूर्त मात्रमें ही कर्म-विनिर्मुक्त हो जाता है।

द्वादश अध्याय

निर्जराका स्वरूप और उसके भेद

उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा ।
आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा ॥१॥

संचित कर्मके दूर करनेको निर्जरा कहते है। वह निर्जरा दो प्रकारकी है। एक विपाकजा निर्जरा और दूसरी अविपाकजा निर्जरा ॥१॥

१ विपाकजा निर्जराका स्वरूप

अनादिबन्धनोपाधिविपाकवशवर्तिनः ।
कर्मारब्धफलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा ॥२॥

अनादि कालसे बँधे हुए कर्मरूप उपाधिके परिपाकके वश होकर जो कर्म समय आनेपर उदयमें आकर और अपना फल देकर नष्ट होता है, उसे विपाकजा निर्जरा कहते हैं ॥२॥

२ अविपाकजा निर्जराका स्वरूप

अनुदीर्णं तपःशक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम् ।
प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥३॥

उदयमें नहीं आये हुए कर्मोंको तपकी शक्तिसे उदीर्ण करके और उन्हें उदयावलीमें प्रवेश करके जो कर्मका वेदन किया जाता है, उसे अविपाकजा निर्जरा कहते हैं ॥३॥

उदाहरण पूर्वक दोनों निर्जराओंका स्पष्टीकरण

यथाम्रपनसादीनि परिपाकमुपायतः ।
अकालेऽपि प्रपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनाम् ॥४॥
अनुभूय क्रमात्कर्म विपाकप्राप्तमुज्झताम् ।
प्रथमास्त्येव सर्वेषां द्वितीया तु तपस्विनाम् ॥५॥

जैसे आम, पनस आदि फल अकालमें भी उपायसे परिपाकको प्राप्त हो जाते हैं; उसी प्रकार प्राणियोंके कर्म भी यथाकाल उदयमें आनेके पूर्व ही तपस्या आदिके द्वारा क्रमसे विपाकको प्राप्त कर और अनुभव कर निर्जीर्ण कर दिये जाते हैं। इनमें जो विपाकजा निर्जरा है, वह समस्त संसारी जीवोंके पाई जाती है, किन्तु जो दूसरी अविपाकजा निर्जरा है वह तपस्वी साधुओंके ही होती है ॥४-५॥

अब कर्म-निर्जराके प्रधान कारणभूत तपका वर्णन करते हैं—

तपस्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
प्रत्येकं षड्विधं तच्च सर्वं द्वादशधा भवेत् ॥६॥

तपके दो भेद हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। इनमें प्रत्येकके छह छह भेद हैं, इस प्रकार दोनों तपोंके बारह भेद हो जाते हैं ॥६॥

बाह्य तपके भेद

बाह्यं तत्रावमोदर्यमुपवासो रसोज्झनम् ।
वृत्तिसंख्या वपुःक्लेशो विविक्तशयनासनम् ॥७॥

१ अवमोदर्य, २ उपवास, ३ रसपरित्याग, ४ वृत्तिपरिसंख्यान, ५ कायक्लेश और ६ विविक्तशय्यासन। ये छह बाह्य तपके भेद हैं ॥७॥

१ अवमोदर्य तप

सर्वं तदवमोदर्यमाहारं यत्र हापयेत् ।
एक-द्वि-त्र्यादिभिर्ग्रासैराग्रासं समयान्मुनिः ॥८॥

अपने आहारमें से एक, दो, तीन आदि ग्रासोंसे लेकर अन्तिम (बत्तीसवें) ग्रास तक मुनिजन जो आहारको आगमानुसार छोड़ते हैं, वह सब अवमोदर्य तप कहलाता है ॥८॥

२ उपवास तप

मोक्षार्थं त्यज्यते यस्मिन्नाहारोऽपि चतुर्विधः ।
उपवासः स तद्भेदा सन्ति षष्ठाष्टमादयः ॥९॥

मोक्षके लिए जो खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकारोंके आहारका त्याग किया जाता है, वह उपवास कहलाता है । उसके षष्ठभक्त (बेला) अष्टमभक्त (तेला) आदि अनेक भेद होते है ॥९॥

३ रसपरित्याग

रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिषाम् ।
एक-द्वि-त्रीणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा ॥१०॥

तैल, दूध, इक्षु, दधि और घी, इनका त्याग करना सो रसपरित्याग है, अथवा उक्त रसोंमेंसे एक, दो, तीन चार रसोंको छोड़ते हुए यह तप पाँच प्रकारका हो जाता है ॥१०॥

४ वृत्तिपरिसंख्यान तप

एकवस्तुदशागारपानमुद्गादिगोचरः ।
सङ्कल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसङ्ख्या हि तत्तपः ॥११॥

एक वस्तु, एक घरसे लेकर दश घर, पान-मूंग आदि आहार

पान-सम्बन्धी जो संकल्प किया जाता है, वह वृत्तिपरिसंख्यानतप कहलाता है ॥११॥

भावार्थ—गोचरी जानेके पूर्व यह नियम करना कि आज अमुक वस्तु मिलेगी, तो आहार करूँगा, अन्यथा नहीं, इतने घर तक गोचरीको जाऊँगा, इत्यादि प्रकार बने भिक्षावृत्ति सम्बन्धी नियम करनेको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं।

५ कायक्लेश तप

अनेकप्रतिमास्थानं मौनं शीतसहिष्णुता।
आतपस्थानमित्यादिकायक्लेशो मतं तपः ॥१२॥

अनेक प्रकारके प्रतिमायोग धारण कर स्थित रहना, मौन धारण करना, शीत-बाधा सहना, आतप (उष्ण) बाधा सहना अर्थात् आतापनयोग धारण करना, इत्यादि कायक्लेश तप है ॥१२॥

६ विविक्तशय्यासन तप

जन्तुपीडाविमुक्तायां वसतौ शयनासनम्।
सेवमानस्य विज्ञेयं विविक्तशयनासनम् ॥१३॥

प्राणियोंकी पीडासे विमुक्त एकान्त वसतिकामें शयन, आसन को सेवन करने वाले साधुके विविक्तशय्यासन नामका तप जानना चाहिए ॥१३॥

अब छह प्रकारके आभ्यन्तर तपको कहते हैं

स्वाध्यायः शोधनं चैव वैयावृत्त्यं तथैव च।
व्युत्सर्गो विनयश्चैव ध्यानमाभ्यन्तरं तपः ॥१४॥

१ स्वाध्याय, २ शोधन अर्थात् प्रायश्चित्त, ३ वैय्यावृत्त्य,

४ व्युत्सर्ग, ५ विनय और ६ ध्यान ये छह प्रकारका आभ्यन्तर तप है ॥१४॥

१ स्वाध्याय तप

वाचना पृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना ।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पञ्चधा जिनैः ॥१५॥

वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मोपदेश और अनुप्रेक्षा ये स्वाध्याय तपके पाँच भेद जिन भगवान्‌ने कहे हैं ॥१५॥

विशेषार्थ—शास्त्रके अध्ययनको स्वाध्यायतप कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं। किसी शास्त्रका, उसके मूल श्लोकादिका, उसके अर्थका-अथवा मूल और अर्थ दोनोंका स्वयं पढना, या किसी जिज्ञासु पात्रको प्रतिपादन करना वाचना स्वाध्याय है। शास्त्र-सम्बन्धी संशयको दूर करनेके लिए, तत्त्वार्थके निश्चयके लिए एवं अन्य शंका-समाधानके लिए दूसरेसे पूछना पृच्छना नामका स्वाध्याय है। शास्त्रीय वचनोंका, श्लोक आदिका निर्दोष उच्चारण करना, उनका पाठ करना—फेरना आम्नाय नामका स्वाध्याय है। धार्मिक कथाओंका व्याख्यान करना धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय है। गुरुसे पढ़े हुए तत्त्वका मनसे चिन्तवन अभ्यास आदि करना अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय है। इस प्रकार पाँचों भेदरूप स्वाध्यायको करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है।

२ प्रायश्चित्त तप

आलोचनं प्रतिक्रान्तिस्तथा तदुभयं तपः ।
व्युत्सर्गश्च विवेकश्च तथोपस्थापना मता ॥१६॥

परिहारस्तथाच्छेदः प्रायश्चित्तभिदा नव ।
प्रायश्चित्तं तपो ज्ञेयमात्मसंशुद्धिकारणम् ॥१७॥

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, तप, व्युत्सर्ग, विवेक, उपस्थापना, परिहार, छेद ये प्रायश्चित्तके नौ भेद हैं। यह प्रायश्चित्त तप ही आत्माकी परम शुद्धिका कारण जानना चाहिए॥१६–१७॥

विशेषार्थ—अपने दोषोंको निष्कपट भावसे गुरुके सम्मुख निवेदन करना आलोचना प्रायश्चित्त है। अपने दोषको जानकर 'हा, मैंने यह बुरा किया' इस प्रकारसे अपनी निन्दा करनेको प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त कहते हैं। किसी महान् दोषके लग जाने पर आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंके एक साथ करनेको तदुभयप्रायश्चित्त कहते हैं। उपवास आदि तपोंके द्वारा आत्मशुद्धिके करनेको तपःप्रायश्चित्त कहते हैं। किसी अपराधके हो जानेपर कायोत्सर्ग आदि करके उसे शुद्ध करनेको व्युत्सर्गप्रायश्चित्त कहते हैं। किसी बहुत बड़े दोषके लग जाने पर गुरुके द्वारा दण्डस्वरूप खान-पान, पात्र आदिका जो पृथक्करण कर दिया जावे और उसे शिरोधार्यकर आत्म-शुद्धि करे, तो वह विवेकप्रायश्चित्त कहलाता है। किसी महान् पापके लग जाने या किसी व्रतके सर्वथा खण्डित हो जाने पर पुनः दीक्षा धारण करना उपस्थापना प्रायश्चित्त है। मास आदिके विभागसे कुछ दिनों तक संघसे दूर रह कर आत्म-शुद्धिके करनेको परिहारप्रायश्चित्त कहते हैं। कुछ काल तक दीक्षाको छेद कर आत्म-शुद्धि करनेको छेद प्रायश्चित्त कहते हैं। इन प्रायश्चित्तोंके द्वारा संचित दोष दूर होता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है, इसी लिए हमारे महर्षियोंने प्रायश्चित्त तपका विधान किया है।

३ वैय्यावृत्त्य तप

सूर्य्युपाध्यायसाधूनां शैक्ष्यग्लानतपस्विनाम् ।
कुलसंघमनोज्ञानां वैयावृत्त्यं गणस्य च ॥१८॥
व्याध्याद्युपनिपातेऽपि तेषां सम्यग्विधीयते ।
स्वशक्त्या यत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं तदुच्यते ॥१९॥

आचार्य, उपाध्याय, साधु, नवीन दीक्षित शैक्ष्य, रोगी, ग्लानमुनि, तपस्वी, आचार्य परम्पराके साधु, श्रमण, मुनि, अनगार और ऋषिरूप संघवाले साधु, मनोज्ञ साधु और वृद्ध परम्परा वाले साधु जनोंकी व्याधि, उपसर्ग आदि आ जाने पर स्वशक्तिके अनुसार जो उसका प्रतीकार करते हुए भले प्रकार सेवा-टहल की जाती है, उसे वैयावृत्त्य तप कहते हैं ॥१८-१९॥

४ व्युत्सर्ग तप

बाह्यान्तरोपधित्यागाद् व्युत्सर्गो द्विविधो भवेत् ।
क्षेत्रादिरुपधिर्बाह्यः क्रोधादिरपरः पुनः ॥२०॥

क्षेत्र, वास्तु आदि बाह्य-उपधि कहलाती है और क्रोध, मान आदि आभ्यन्तर-उपधि कहलाती है, इन दोनों प्रकारकी बाह्य और अन्तरंग-उपधिके त्याग करनेसे व्युत्सर्ग तप भी दो प्रकारका हो जाता है ॥२०॥

५ विनय तप

दर्शन-ज्ञानविनयौ चारित्रविनयोऽपि च ।
तथोपचारविनयो विनयः स्याच्चतुर्विधः ॥२१॥

दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय इस प्रकार विनय तपके चार भेद हैं ॥२१॥

विशेषार्थ—निःशंकित आदि अंगोंका धारण करते हुए सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना और सम्यग्दृष्टिका विनय करना दर्शनविनय है। बहुत आदर भावके साथ ज्ञानका अभ्यास करना और ज्ञानी पुरुषोंकी भक्ति करना ज्ञानविनय है। दर्शन-ज्ञान युक्त सम्यक्-चारित्रके प्रति आदर रखना और संयमीकी विनय करना, चारित्र-विनय है। आचार्य आदिक पूज्य पुरुषोंके आनेपर उठ खड़ा होना, वन्दना आदि करना, उनके पीछे चलना उपचारविनय है। इस विनय तपसे भी कर्मोंकी निर्जरा होती है।

६ ध्यान तपका वर्णन

आर्त्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम्।
ध्यानमुक्तं परं तत्र तपोऽङ्गमुभयं भवेत् ॥२२॥

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान यह चार प्रकारका ध्यान है। इनमेंसे तपके अंगभूत तो अन्तिम दो ही ध्यान हैं। आदिके दोनों ध्यान तो संसारके ही कारण हैं ॥२२॥

१ आर्त्तध्यानका स्वरूप

प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये।
आर्त्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥२३॥

प्रियवस्तुके वियोग हो जानेपर बार-बार उसकी प्राप्तिके लिए चिन्तवन करना सो इष्ट-वियोग आर्त्तध्यान है। अप्रिय वस्तुके संयोग हो जानेपर उसके दूर करनेके पुनः पुनः विचार करना सो अनिष्ट-संयोग आर्त्तध्यान है। आगामी भवोंमें सुख-प्राप्तिकी चिन्तना करते रहना सो निदान आर्त्तध्यान है और वेदनाके होने

पर उसके दूर करनेके लिए रात-दिन हाय हाय करना सो वेदना आर्त्तध्यान है। इस प्रकार संक्षेपसे आर्त्तध्यानका वर्णन किया॥२३॥

२ रौद्रध्यानका स्वरूप

हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे।
रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः ॥२४॥

हिंसा करनेमें सकषाय रुद्र भाव रखना हिंसानन्द रौद्रध्यान है, झूठ बोलनेमें सदा अनुरक्त रहना मृषानन्द रौद्रध्यान है। चोरी करनेके सदा विचार रखना स्तेयानन्द रौद्रध्यान है और विषयोंके संरक्षणमें सदा कषाय संयुक्त रौद्रभाव रखना सो परिग्रहानन्द नामका चौथा रौद्रध्यान है। इस प्रकार संक्षेपसे रौद्रध्यानको कहा ॥२४॥

ये दोनों कुध्यान हैं, इनका त्याग करना चाहिए।

३ धर्म्यध्यानके भेद

आज्ञापायं विपाकानां विवेकाय च संस्थितेः।
मनसः प्रणिधानं यद् धर्म्यध्यानं तदुच्यते ॥२५॥

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय रूप जो मनका उपयोग रखना, सो चार प्रकारका धर्म्यध्यान है ॥२५॥

१ आज्ञाविचय धर्म्यध्यानका स्वरूप

प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञीमाज्ञामर्थावधारणम्।
गहनानां पदार्थानामाज्ञाविचयमुच्यते ॥२६॥

सर्वज्ञ देवकी आज्ञाको प्रमाण करके गहन पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय करना सो आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है ॥२६॥

२ अपायविचय धर्म्यध्यानका स्वरूप

कथं मार्गं प्रपद्येरन्नमी उन्मार्गतो जनाः ।
अपायमिति या चिन्ता तदपायविचारणम् ॥२७॥

ये संसारके प्राणी उन्मार्गसे दूर होकर किस प्रकार सुमार्गको प्राप्त हों, व दुःखोंसे छूटें, इस प्रकारका विचार करना सो अपाय-विचय धर्म्यध्यान है ॥२७॥

३ विपाकविचयधर्म्यध्यानका स्वरूप

द्रव्यादिप्रत्ययं कर्म फलानुभवनं प्रति ।
भवति प्रणिधानं यद्विपाकविचयस्तु सः ॥२८॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिके निमित्तसे कर्मके फलका अनुभव होता है, इसप्रकार कर्मोंके विपाक (फल) के चिन्तवन करनेको विपाक विचय धर्म्यध्यान कहते है ॥२८॥

४ संस्थानविचयधर्म्यध्यानका स्वरूप

लोकसंस्थानपर्यायस्वभावस्य विचारणम् ।
लोकानुयोगमार्गेण संस्थानविचयो भवेत् ॥२९॥

लोकानुयोग शास्त्रमें वर्णित मार्गसे लोकके आकार, पर्याय और स्वभावका विचार करना सो संस्थानविचय धर्म्यध्यान है ॥२९॥

उपसंहार—उक्त चारों प्रकारके धर्म्यध्यानोंसे पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है और परम आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है, इसलिए ज्ञानी जनोंको सदा धर्म्यध्यान रूप प्रवृत्ति रखना चाहिए। यह धर्म्यध्यान चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। आठवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक शुक्ल ध्यान ही होता है।

शुक्लध्यानके भेद

शुक्लं पृथक्त्वमाद्यं स्यादेकत्वं तु द्वितीयकम् ।
सूक्ष्मक्रियं तृतीयं तु तुर्यं व्युपरतक्रियम् ॥३०॥

१ पृथक्त्व वितर्क, २ एकत्ववितर्क, ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और ४ व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये चार शुक्लध्यानके भेद है ॥३०॥

भावार्थ—यह शुक्लध्यान परम गहन और सूक्ष्म है। इन चार भेदोंमेंसे आदिके दो शुक्लध्यान चतुर्दशपूर्वके पाठी साधुके ही होते है। अन्तिम दोनों शुक्लध्यान केवली भगवान्‌के होते हैं। आदिके दो शुक्लध्यानोंके द्वारा चार घातिया कर्मोंका नाश किया जाता है और अन्तिम दोनों शुक्लध्यानोंसे चारों अघातिया कर्मोंका नाश किया जाता है। इन ध्यानोंका स्वरूप विवेचन बहुत गहन एवं सूक्ष्म है, तथापि जिज्ञासु जनोंको सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिकके नवें अध्यायसे उनका विशेष वर्णन जानना चाहिए।

अब कर्मोंकी निर्जराके क्रमका वर्णन करते हैं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः संयतासंयतस्ततः ।
संयतस्तु ततोऽनन्तानुबन्धिप्रवियोजकः ॥३१॥
दृग्मोहक्षपकस्तस्मात्तथोपशमकस्ततः ।
उपशान्तकषायोऽतस्ततस्तु क्षपको मतः ॥३२॥
ततः क्षीणकषायस्तु घातिमुक्तस्ततो जिनः ।
दशैते क्रमतः सन्त्यसंख्येयगुणनिर्जराः ॥३३॥

१ सम्यग्दृष्टि जीव, २ संयतासंयत श्रावक, ३ संयमी मुनि, ४ अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन करनेवाला, ५ दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय करनेवाला, ६ उपशमश्रेणी चढ़नेवाला, ७ उपशान्तकषायवीतराग, ८ क्षपकश्रेणी चढ़नेवाला, ९ क्षीणकषायवीतराग

और १० घातियाकर्मोंसे रहित जिनभगवान्, ये दश प्रकारके जीव क्रमसे असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा करते हैं ॥२१–२३॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके जितनी कर्म-निर्जरा होती है उससे असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा श्रावकके होती है। श्रावकसे असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा मुनिके होती है, इस प्रकार आगे-आगेक क्रम जानना चाहिए। इस असंख्यात गुणी कर्म-निर्जराका कारण आगे-आगेके स्थानोंमें चित्तकी परम विशुद्धि और संयमका होता है। इसलिए जो जीव आत्मकल्याणके इच्छुक हैं, परम शान्ति चाहते हैं उन्हें चाहिए कि सम्यग्दृष्टि बनकर आगेके स्थानोंको प्राप्त करें।

निर्जरा तत्त्वके विशेष ज्ञानके लिए तत्त्वार्थसूत्रका नवाँ अध्याय और उसकी संस्कृत-हिन्दी टीकाओंको देखना चाहिए।

इस प्रकार निर्जरातत्त्वका वर्णन करनेवाला बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

• त्रयोदश अध्याय : संक्षिप्त सार •

पूर्व अध्यायमें वर्णित असंख्यातगुणित क्रमसे कर्मनिर्जरा करता हुआ यह जीव सर्वप्रथम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंका सर्वथा अभाव कर और अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्त बलको प्राप्त कर परम आर्हन्त्य पदको प्राप्त करता है, जिसे कि कैवल्य दशा या जीवन्मुक्त अवस्था कहते हैं। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके पश्चात् जबतक जीवन शेष रहता है, तब तक वे संसारके भूले-भटके प्राणियोंके सम्बोधनार्थ सन्मार्गका उपदेश देते हुए धर्म-शास्ताके रूपमें भूमण्डल पर विहार करते रहते हैं। जब उनके जीवनका अन्त आ जाता है और आयु केवल अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रह जाती है, तब वे अपनी सर्व क्रियाओंका उपसंहार करके विशिष्ट शुक्लध्यानके द्वारा शेष अघातिकर्मोंकी भी प्रति समय असंख्यात-गुणी निर्जरा करते हुए सर्व कर्मोंसे विनिर्मुक्त होकर अक्षय, अव्याबाध, कल्पनातीत, निःसीम, अनुपम आनन्दरूप परम आत्मसिद्धिको प्राप्त करते हैं, उसे ही मोक्ष कहते हैं।

आत्माके मोक्ष प्राप्त करनेके अनन्तर वह कहाँ जाता है और क्या करता रहता है, आदि बातोंका भी इस अध्यायमें विवेचन किया गया है।

त्रयोदश अध्याय

अब मोक्ष तत्त्वका वर्णन करते हैं—

अभावाद् बन्धहेतूनां बन्धनिर्जरया तथा।
कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते ॥१॥

मिथ्यादर्शन आदि कर्म-बन्धके कारणोंका अभाव हो जानेसे तथा संचित कर्मोंकी निर्जरासे जो समस्त कर्मोंका विनाश हो जाता है, उसे मोक्ष कहते हैं ॥१॥

पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।
संसारबीजं कात्स्न्र्येन मोहनीयं प्रहीयते ॥२॥
ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम्।
प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः ॥३॥

ऊपर निर्जरा प्रकरणमें कहे गये तप, चारित्र और शुक्ल ध्यान आदि कारणोंसे पूर्व-संचित कर्मोंका क्षय करते हुए साधुके संसार का बीजभूत मोहनीय कर्म प्रथम सम्पूर्ण रूपसे नष्ट होता है। पुनः उसी साधुके एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायसे तीनों कर्म एक साथ नष्ट हो जाते हैं ॥२–३॥

ततः क्षीणचतुःकर्मा प्राप्तोऽथाख्यातसंयमम्।
बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः ॥४॥
शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली ॥५॥

तदनन्तर चारों घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर यथाख्यात संयमका धारक वह साधु कर्म-बन्धनके बीजसे रहित होकर स्नातक परमेश्वर अरहंत बन जाते हैं। उसके चार अघातिया कर्म अवशिष्ट रहते हैं अतः तत्काल मुक्ति नहीं होती किन्तु मुक्त होनेके पूर्व तक उन कर्मोंके फलकी अपेक्षा रहती है। इसप्रकार वे जिन शुद्ध, बुद्ध, निरामय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और केवलज्ञानके धारक अरहन्त परमेष्ठी कहलाते हैं ॥४–५॥

कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति ।
यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः ॥६॥

उस अरहन्त अवस्थामें रहते हुए वे सर्व देशोंमें बिहार कर और भव्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देकर अन्तमें योग-निरोध कर तथा शेष चार अघातिया कर्मोंका भी क्षयकर सर्व कर्मसे रहित होकर वे अरहन्त परमेष्ठी निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं। जिसप्रकार ईंधन रूप नवीन उपादान कारणसे रहित और पूर्वसंचित ईंधनको जलाकर भस्म कर देनेवाली अग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार कर्मरूप ईंधनको जलाकर यह आत्मा भी परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥६॥

तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात्स गच्छति ।
पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः ॥७॥

समस्त कर्मोंके क्षय होनेके पश्चात् ही यह जीव ऊपर लोकके अन्त तक चला जाता है, जहाँ पर कि रहकर अनन्तानन्त काल तक परम अतीन्द्रिय आत्मिक सुखको भोगेगा। ऊपर जानेका कारण पूर्व प्रयोग, असंगता, बन्धच्छेद और ऊर्ध्वगमन-स्वभावता है ॥७॥

विशेषार्थ—पूर्वके अभ्याससे जिस प्रकार कुंभकारका चक्र लकड़ीके हटा लेने पर भी घूमता ही रहता है उसी प्रकार यह आत्मा भी 'कब मुक्त बनूँ, कब सिद्धालयमें पहुँचूँ' इत्यादि प्रकारके संस्कारके कारण यह मुक्त जीव शरीरसे छूटते ही ऊपरको चला जाता है। मिट्टीसे लिप्त घड़ा जैसे पहले पानीमें डूबा रहता है और मिट्टीके दूर होते ही ऊपर आ जाता है, इसी प्रकार कर्म रूप मृत्तिकासे मुक्त होते ही यह जीव ऊपर चला जाता है। एरण्डका बीज अपने कोश रूपी बन्धनके छेद होते ही जैसे ऊपरको जाता है उसी प्रकार कर्म बन्धनोंके नष्ट होनेसे यह ऊपरको जाता है। अथवा जिसप्रकार अग्निकी शिखाका ऊपरको उठना ही स्वभाव है, उसी प्रकार जीवका भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, अतः मुक्त होते ही वह ऊपरको जाता है।

ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परम् ॥८॥

लोकान्तसे भी ऊपर सिद्धोंका गमन क्यों नहीं होता? इस शंकाका समाधान यह है कि उससे ऊपर धर्मास्तिकाय द्रव्यका अभाव है और जीव-पुद्गलोंकी गतिका यही परम कारण है ॥८॥

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥९॥

सिद्ध जीवोंका सुख सांसारिक विषयोंसे रहित अव्यय अव्याबाध और परमोत्कृष्ट है, ऐसा परम ऋषियोंने कहा है ॥९॥

लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ॥१०॥

सम्पूर्ण लोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसकी कि उपमा

सिद्धोंके सुखसे दी जाय, इसी कारण उनके सुखको निरुपम कहा गया है ॥१०॥

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥११॥

वह निर्वाण, जन्म-जरा-मरण, रोग-शोक, दुःख और भयसे परिमुक्त है, वहाँ आत्माका शुद्ध सुख है और वह नित्य परम कल्याणरूप कहा गया है ॥११॥

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः ।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥१२॥

वे सिद्ध जीव ज्ञान, दर्शन, शक्ति, स्वास्थ्य, आनन्द, तृप्ति और परम शुद्धिसे मुक्त होकर निरतिशय, मर्यादातीतकाल तक निःश्रेयस सुखका उपभोग करते है ॥१२॥

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः ॥१३॥

यदि संसारमें एकवार त्रिलोकको चल-विचल करनेमें समर्थ उत्पात भी हो जावे, (जो कि असम्भव है) तो भी और सैकड़ों कल्पकालोंके बीत जाने पर भी सिद्ध जीवोंके कोई विकार होना सम्भव नहीं है, अर्थात् वे जिस रूपमें आज मुक्त हुए हैं, उसी रूपमें अनन्तानन्त कालतक रहेंगे ॥१३॥

मोक्षतत्त्वकी विशेष जानकारीके लिए मोक्षपाहुड और तत्त्वार्थसूत्रके दशवें अध्यायकी संस्कृत-हिन्दीकी टीकाओंको देखना चाहिए ।

इस प्रकार मोक्षतत्त्वका वर्णन करनेवाला तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

• चतुर्दश अध्याय : संक्षिप्त सार •

जो पुरुष ऊपरके अध्यायोंमें निरूपण किये गये सातों तत्त्वों का श्रद्धान कर और उन्हें भले प्रकार जानकर अपनी शक्तिके अनुसार श्रावक-व्रत या मुनि-व्रतको धारण करता है; अथवा जो परिस्थितियोंसे विवश होकर किसी भी व्रतादिको धारण करनेमें अपने आपको असमर्थ पाता है, वह भी संसार, देह और भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न करनेके लिए और गृहीत व्रतोंकी दृढ़ताके लिए संसारकी अनित्यताका, इन्द्रिय-विषयोंकी निःसारताका और धन-वैभवादिकी चंचलताका विचार करता है और उन विचारोंके प्रभाव से अपने भीतर चारित्रको धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न करता है। क्योंकि, पूर्ण चारित्रके धारण किये विना ध्यान या समाधिकी सिद्धि सम्भव नहीं है। पुनः आत्माके निःसङ्गत्वकी भावनाको दृढ़ करने के लिए ज्ञान-दर्शनादि गुणोंका स्वरूप-चिन्तन करता है और विचार करता है कि मैं तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यका स्वामी हूँ, यह शरीर और उसके सम्बन्धी सर्व पदार्थ मेरेसे सर्वथा भिन्न हैं, न वे कभी मेरे स्वरूप हो सकते हैं और न मैं कभी उनके स्वरूप हो सकता हूँ, इत्यादि विचारोंके द्वारा वह संसारके सर्व पदार्थोंसे आत्माके भिन्नत्वकी भावना करता है और साथ ही जिन इन्द्रिय-विषयोंकी ओर यह चित्त निरन्तर दौड़ता है, उनके स्वरूपका भी चिन्तवन करता है और अपनी

आत्माको सम्बोधन करता है कि 'हे आत्मन्, देख—ये हस्ती, मीन, भ्रमर, पतङ्ग और मृगादि प्राणी एक एक इन्द्रियके वशमें पड़कर अपना सर्वनाश करते हैं, तो पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें रात-दिन मग्न रहने वाला तू किन-किन दुःखोंको प्राप्त नहीं होगा ? जिस धनकी प्राप्तिके लिए तू अनेक महा दुःखोंको सहता है, वह भी जीवन भर संरक्षण आदिकी चिन्ताओंसे दुःख ही देता रहता है, अतः उसकी तृष्णाको तू छोड़। इत्यादि प्रकारसे वह संसार, देह, भोग और धनादिकी तृष्णासे विरक्त होकर आत्म-ध्यानकी ओर अपनी मनोवृत्तिको लगाता है। ज्यों-ज्यों वह आत्मचिन्तन करता है, त्यों-त्यों उसे आत्मानुभूति होने लगती है और तब उसे यह संसार नीरस और दुःखमय प्रतिभासित होने लगता है। धीरे-धीरे उसकी आत्मिक शान्ति बढ़ती जाती है और वह आत्मिक तेजसे सम्पन्न होता जाता है। इस ध्यानकी अवस्थामें उस योगीके जो परम आनन्द प्राप्त होता है, वह वचनोंसे अवर्णनीय है। इस आत्मिक आनन्दमें अवस्थित रहते हुए योगी कोटि-कोटि भव-सञ्चित कर्मोंको क्षणमात्रमें भस्म कर देता है और वह स्वयं आत्मासे परमात्मा बन जाता है।

संसारी प्राणी आत्मज्ञानको प्राप्त कर किस प्रकार आत्मासे परमात्मा बन जाता है, यह बात इस अध्यायमें बतलाई गई है और यही जैनधर्मका मर्म या रहस्य है। जैनधर्मके इस अमृतोपम रसका पान कर आज तक अगणित जीवोंने अजर-अमर शिवपद प्राप्त किया है और जो इसका पान करेंगे, वे अजर-अमर पदको प्राप्त होंगे।

चतुर्दश अध्याय

उक्त प्रकारसे जिसने सप्त तत्त्वोंका स्वरूप समझा है और रत्नत्रय-धर्मकी महत्ताका अनुभव किया है, वह संसारके स्वरूपसे परिचित पुरुष विचारता है—

भवकोटीभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे ।
न च गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य ॥१॥

संसारमें कोटि-कोटि जन्म धारण कर लेने पर भी नहीं प्राप्त होनेवाला यह अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर मेरे यह प्रमाद कैसा ! अहो, देवराज इन्द्रकी भी बीती हुई आयु पुनः लौटकर नहीं आती ! ॥१॥

यतः बाहरी वैभव क्षण-भंगुर है, अतः मुझे आत्म-हितके कार्यमें उद्यम करना ही चाहिए—

आरोग्यायुर्बलसमुदयाश्चला वीर्यमनियतं धर्मे ।
तल्लब्ध्वा हितकार्ये मयोद्यमः सर्वथा कार्यः ॥२॥

आरोग्य, आयु, बल-वीर्य और धन-धान्यादिका समुदाय ये सभी चञ्चल हैं, अनियत एवं क्षण-भंगुर हैं। जबतक इन सबका सुयोग प्राप्त है, तबतक आत्म-हितके कार्यरूप धर्ममें मुझे सर्व प्रकारसे उद्यम करना चाहिए ॥२॥

भावार्थ—नीरोगता सदा नहीं रहती, आयु प्रतिक्षण नष्ट हो रही है, बल-वीर्य भी स्थायी नहीं हैं और यह धन-वैभव तो कभी किसीके स्थिर नहीं रहा है। अतः जबतक मुझे उक्त सर्व सामग्रीका

सुयोग मिला है, तबतक धर्म-साधनका प्रयत्न करना ही चाहिए और इसमें एक क्षणका भी विलम्ब नहीं करना चाहिए।

धर्म-साधनके लिए उद्यत होता हुआ ज्ञानी विचारता है—

कर्मोदयाद् भवगतिर्भवगतिमूला शरीरनिर्वृत्तिः।
देहादिन्द्रियविषया विषयनिमित्ते च सुख-दुःखे ॥३॥

कर्मके उदयसे जीवको मनुष्य-पशु आदिकी पर्यायोंमें जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेनेसे शरीरको धारण करना पड़ता है। शरीरमें इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियोंमें अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है और विषयोंके ग्रहण करनेके निमित्तसे सुख-दुःख दोनों उत्पन्न होते हैं ॥३॥

किन्तु यह प्राणी केवल सुखका ही उपभोग करना चाहता है और दुःखसे डरता है। पर मोह-वश जिस कार्यको भी करता है, उससे दुःख ही पाता है—

दुःखद्विट् सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददृष्टगुणदोषः।
यां यां करोति चेष्टां तया तया दुःखमादत्ते ॥४॥

दुःखसे दूर भागनेवाला और सुख चाहनेवाला यह प्राणी मोहसे अन्धा होकर भले-बुरेका विचार न करके जिस-जिस चेष्टाको करता है, उस उससे वह दुःखको पाता है ॥४॥

अनादि-संस्कारके वशसे यह प्राणी पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें अत्यन्त आसक्त हो रहा है और निरन्तर सभी इन्द्रियोंके विषयोंको भोगते हुए भी उनसे तृप्त नहीं होता। अतः आचार्य उसे सम्बोधन करते हुए क्रमशः एक-एक इन्द्रियके विषय-सेवनसे महान् दुःख भोगनेवाले प्राणियोंका उदाहरण उपस्थित करते हैं—

शयनासनसंवाहनसुरतस्नानानुलेपनासक्तः ।
स्पर्शव्याकुलितमतिर्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः ॥५॥

सुन्दर शय्या, कोमल आसन, अंग-मर्दन, संभोग, स्नान, और अनुलेपनमें आसक्त हुआ मूढ प्राणी हथिनीके शरीरका स्पर्श करनेके लिए व्याकुलित चित्तवाले गजेन्द्रके समान बन्धको प्राप्त होता है ॥५॥

भावार्थ—जैसे वनमें स्वच्छन्द विचरनेवाला गजराज स्पर्शन-इन्द्रियके विषयमें आसक्त होकर गड्ढेके ऊपर खड़ी की गई नकली हथिनीको ही असली मान कर उसके साथ विषय-सेवन करनेके लिए उसकी ओर दौड़ता है और गड्ढेमें गिरकर महान् दुःखको पाता है तथा अन्तमें मनुष्योंके द्वारा बाँध लिया जाता है, इसी प्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय जनित सुखके फेरमें पड़कर संसारके सभी प्राणियोंको अनन्त दुःख भोगने पड़ते हैं।

मिष्टान्नपानमांसोदनादिमधुररसविषयगृद्धात्मा ।
गलयन्त्रपाशबद्धो मीन इव विनाशमुपयाति ॥६॥

मिष्ट अन्न-पान, मांस, शालि-ओदन एवं अनेक प्रकारके मधुर रसवाले रसना-इन्द्रियके विषयोंमें आसक्त हुआ प्राणी गलयन्त्र (बंसी) या पाश (जाल) में बद्ध मीनके समान विनाशको प्राप्त होता है ॥६॥

भावार्थ—जैसे बंसीमें लगे मांस-खण्ड या आटेकी गोलीको खानेके लोभमें मछली मारी जाती है, उसी प्रकार यह संसारी प्राणी रसना-इन्द्रियके विषयके वश होकर नाना प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होता है।

स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासैः ।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ॥७॥

स्नान करनेके सुगन्धित अङ्गराग (उबटन-साबुन आदि), धूप, अगरबत्ती, सुगन्धित लेप एवं आधुनिक नाना प्रकारके सुरभित प्रसाधनोंसे तथा सुगन्धित वस्त्रोंके द्वारा गन्धमें आसक्त चित्त हुआ प्राणी कमल-गन्धमें आसक्त भ्रमरके समान विनाशको प्राप्त होता है ॥७॥

भावार्थ—जिस प्रकार भौंरा कमलकी सुगन्धसे आकृष्ट हो उसके भीतर बैठ कर उसकी सुगन्धिका पान किया करता है और सूर्यास्तके साथ कमलके बन्द हो जानेपर उसीमें बन्द होकर मारा जाता है। इसी प्रकार संसारके प्राणी घ्राण-इन्द्रियके वशंगत होकर नाना प्रकारके कष्टोंको भोगते है ।

गतिविभ्रमेङ्गिताकारहास्यलीलाकटाक्षविक्षिप्तः ।
रूपावेशितचक्षुः शलभ इव विपद्यते विवशः ॥८॥

प्रिय जनोंके सुन्दर गमन, नृत्य, विभ्रम, संकेत, आकार, हास्य, लीला और कटाक्ष-विक्षेपसे विक्षिप्त हुआ प्राणी रूपपर आसक्त दृष्टिवाले पतङ्गोंके समान विवश होकर विनाशको प्राप्त होता है ॥८॥

भावार्थ—जिस प्रकार पतङ्ग दीप-शिखा पर मोहित होकर उसीमें जल मरता है, उसी प्रकार चक्षुरिन्द्रियके वश होकर रूपपर मुग्ध हुए स्त्री-पुरुष भी विनाशको प्राप्त होते है ।

कलरिभितमधुरगान्धर्वतूर्ययोषिद्-विभूषणरवाद्यैः ।
श्रोत्रावबद्धहृदयो हरिण इव विनाशमुपयाति ॥९॥

गायकके मधुर मनोहर संगीत, वाद्य-रव और स्त्रियोंके आभूषणोंके शब्दादिसे जिसका हृदय श्रोत्रेन्द्रियके विषयमें आसक्त है, वह हिरणके समान विनाशको प्राप्त होता है ॥९॥

भावार्थ—जैसे हिरण बहेलियाके मधुर संगीतमें मस्त होकर और उसके जालमें फँसकर अपना सर्वनाश कर लेता है। उसी प्रकार कर्णेन्द्रियके विषय-लोलुप स्त्री-पुरुष भी अपने जीवनका विनाश कर डालते हैं अर्थात् उन्हें आमोद-प्रमोदके सिवाय अपने कर्त्तव्यका कुछ भी भान नहीं रहता और अकस्मात् कालके गालमें चले जाते हैं।

> एकैकविषयसङ्गाद् रागद्वेषातुरा विनष्टास्ते ।
> किं पुनरनियतात्मा जीवः पञ्चेन्द्रियवशार्तः ॥१०॥

ऊपर कहे हुए हिरण आदिक तो एक-एक इन्द्रियके विषयके संगसे पीडित होकर विनाशको प्राप्त होते हैं। किन्तु जो पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंसे पीडित हैं, उनके वशंगत हैं, अनियत मनोवृत्तिवाले हैं और राग-द्वेषसे आतुर हैं, उनका कहना ही क्या है? ॥१०॥

भावार्थ—जब हिरण आदि प्राणी एक-एक इन्द्रिय-विषयके निमित्तसे विनष्ट होते देखे जाते हैं, तो हम पञ्चेन्द्रिय मनुष्य तो पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंमें रात-दिन निमग्न हो रहे हैं, हमारी क्या दशा होगी? ऐसा विचार कर हमें इनसे बचना चाहिए।

> वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनाम् ।
> तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवाऽऽपदि ॥११॥

ज्ञानी पुरुष विचारता है कि यह इन्द्रिय विषय-जनित सुख

वास्तविक सुख नहीं है, किन्तु वासनामात्र ही है, यथार्थमें तो यह दुःखरूप ही है। तथा ये पाँचों इन्द्रियोंके भोग आपत्तिमें रोगके समान प्राणीको सदा उद्विग्न करते है। इसलिए मुझे इनसे दूर ही रहना चाहिए ॥११॥

उक्त प्रकारसे आचार्य इन्द्रिय-विषयोंसे विरक्ति उत्पन्न करके अब घर-कुटुम्बादिसे मोह दूर करनेके लिए उपदेश देते हैं—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथाऽन्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥१२॥

यह शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र और शत्रु सभी पदार्थ सर्वथा भिन्न स्वभाववाले है, किन्तु यह मूढ प्राणी इन्हें अपना मानता है ॥१२॥

इसी बातको आचार्य दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट करते है—

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे ।
स्व-स्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥१३॥

जिस प्रकार पक्षिगण नाना दिग्देशान्तरोंसे आकर सायंकालके समय वृक्षोंपर बस जाते हैं और प्रातः काल होते ही सब अपने-अपने कार्यसे अपने-अपने देशों और दिशाओंमें चले जाते हैं। उसी प्रकार ये संसारी जीव विभिन्न गतियोंसे आकर एक कुटुम्बमें जन्म लेते है और आयु पूरी होने पर अपने-अपने कर्मोदयके अनुसार अपनी-अपनी गतियोंको चले जाते है। जब संसारकी यह दशा है तब हे आत्मन्, इनमें मोह कैसा ? और उनमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करके राग-द्वेष कैसा ? ॥१३॥

और हे आत्मन्, राग-द्वेषसे प्रेरित होकर ही तो यह जीव संसारमें घूम रहा है—

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा ।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥१४॥

राग-द्वेषरूपी दो दीर्घ डोरियोंसे बँधी हुई मन्थानीके आकर्षण कर्मके समान यह जोव अज्ञानके द्वारा चिरकालसे संसाररूप समुद्रमें परिभ्रमण करता आरहा है ॥१४॥

भावार्थ—जिस प्रकार दहीको विलोनेवाली मन्थानी दो रस्सियोंके द्वारा आगे-पीछे खींची जानेपर दहीके मटकेमें घूमती रहती है, उसी प्रकार यह संसारी जीव भी राग-द्वेष रूपी दो रस्सियोंसे आकर्षित होता हुआ संसाररूप समुद्रमें निरन्तर परिभ्रमण करता रहता है।

और हे आत्मन्! राग-द्वेष सदा साथ रहते हैं; क्योंकि—

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रमत्यधिकं मनः ॥१५॥

जहाँ पर राग पद (कदम) रखता है, वहाँ पर द्वेष नियमसे आकर खड़ा हो जाता है। और इन दोनोंका आश्रय पाकर मन अत्यधिक चंचल होकर क्षोभको प्राप्त होता है ॥१५॥

भावार्थ—जहाँ राग होगा, वहाँ द्वेष अवश्य आ जायगा, इसलिए द्वेषसे बचनेका उपाय यही है कि किसीसे राग नहीं किया जाय।

इस प्रकार आचार्य स्त्री-पुत्रादिसे मोह छुड़ाकर अब धनादिसे भी मोह भावको छुड़ानेके लिए उपदेश देते हैं—

दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण नश्वरेण धनादिना ।
स्वस्थम्मन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१६॥

जिस प्रकार ज्वरसे पीड़ित कोई पुरुष ज्वरके सन्तापको शान्त करनेके लिए घृत-पान करके अपनेको स्वस्थ माने, पर वस्तुतः वह स्वस्थ नहीं है । उसी प्रकार जो धनादिक अत्यन्त दुःखसे अर्जन किया जाता है तथा जिसका संरक्षण और भी अधिक कष्ट-प्रद है एवं जो नियमसे विनश्वर है, आश्चर्य है कि मनुष्य उस धनादिक की प्राप्तिसे ही अपनेको सुखी मानता है ॥१६॥

कुछ लोग दान-पुण्यादि करनेके लिए धनका संचय करना उत्तम मानते है, आचार्य उन्हें सन्बोधन करते हुए कहते है—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः सञ्चिनोति यः ।
स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१७॥

जो निर्धन पुरुष दानके लिए और देवपूजादि पुण्यकार्यके लिए धनका संचय करता है, वह ठीक उस मनुष्यके समान हास्यका पात्र है, जो 'स्नान करूँगा' यह सोचकर अपने निर्मल शरीरको पङ्क (कीचड़) से लिप्त करता है ॥१७॥

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः ।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥१८॥

जिस प्रकार स्वच्छ, निर्मल एवं मिष्ट जलसे समुद्र कदाचित् भी परिपूर्ण नहीं होते, अर्थात् भरे नहीं दिखाई देते, उसी प्रकार शुद्ध उपायोसे कमाये गये धनके द्वारा सज्जनोंकी सम्पदा भी नहीं वढ़ती है ॥१८॥

भावार्थ—यतः विपुल धनका संचय अनीति-मार्गके आलम्बन

बिना नहीं होता है। अतः धन कमाकर पीछे उसका विनियोग अच्छे कार्योंमें करनेकी भावना रखना भी कल्याणकारी नहीं है।

जो लोग धन कमाकर भोगोपभोग सेवनकी अभिलाषा रखते हैं, आचार्य उन्हें लक्ष्य करके कहते हैं—

आरम्भे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१९॥

जो काम-भोग प्राप्त होनेके पूर्व ही सन्ताप उत्पन्न करते हैं, प्राप्त होने पर अतृप्तिके उत्पादक हैं और अन्तमें जिनका परित्याग करना अत्यन्त कठिन है, ऐसे काम-भोगोंको कौन बुद्धिमान् सेवन करेगा ? ॥१९॥

अब आचार्य उपदेश देते हैं कि ये सांसारिक विषय-भोग किसीके भी पास सदा रहनेवाले नहीं हैं, एक न एक दिन अवश्य छूटनेवाले हैं; अतः स्वयं ही इनका परित्याग करना श्रेयस्कर है—

अवश्यं यदि नश्यन्ति स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा ॥२०॥

यदि ये इन्द्रियोंके विषय चिरकाल तक रह करके भी अवश्य ही नष्ट होते हैं, तो इनका स्वयं ही त्याग कर देना चाहिए; क्योंकि स्वयं त्याग करनेसे मुक्ति प्राप्त होगी, अन्यथा संसारमें परिभ्रमण करना पड़ेगा ॥२०॥

भावार्थ—यदि विषय-भोगोंसे रागभाव छोड़कर स्वयं ही उन्हें छोड़ दिया जायगा, तो उसका संसारसे शीघ्र बेड़ा पार हो जायगा। जो स्वयं उनका त्याग नहीं करेगा, उनसे विषय-भोग तो एक न एक दिन अवश्य छूटेंगे ही। किन्तु स्वयं न छोड़नेके फलस्वरूप

उसे अपरिमित कालतक भव-भ्रमण करना पड़ेगा। अतः स्वयं ही इनको छोड़नेमें जीवका कल्याण है।

जो लोग अहर्निश शरीरके लालन-पालन एवं संप्रसाधनमें ही संलग्न रहते हैं, आचार्य उन्हें सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः सन्ततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥२१॥

जिसका सङ्गम पाकर शुचि पदार्थ भी अशुचि हो जाते हैं और जो सदा ही अपायरूप है, अर्थात् भूख-प्यासकी बाधासे युक्त है, और विनाशीक और सन्ताप-कारक है, उस शरीरकी अभ्यर्थना करना वृथा है ॥२१॥

जो लोग भोगोपभोगोंको भोगते हुए शरीरका भी उपकार करना चाहते हैं और साथ ही आत्माका भी उपकार करना चाहते हैं, आचार्य उनके लिए उपदेश देते हुए कहते हैं—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥२२॥

जो वस्तु जीवकी उपकारक है, वह देहकी अपकारक है और जो वस्तु देहकी उपकारक है, वह जीवकी अपकारक है ॥२२॥

भावार्थ—जिस तपश्चरणादिके अनुष्ठानसे कर्म-मल दूर होनेके कारण जीवका उपकार होता है, उसके द्वारा तो शरीरका अपकार ही होता है; क्योंकि, तपश्चरणादि करनेसे शरीर कृश हो जाता है। तथा जिस भोगोपभोगादिके सेवनसे शरीरका उपकार होता है, उससे जीवका अपकार होता है; क्योंकि भोगोपभोगोंका सेवन राग-द्वेषका वर्धक और पापकर्मका बन्धक है।

इसलिए संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो शरीर और जीव इन दोनोंकी उपकारक हो। अतएव जो वास्तवमें आत्माका उपकार करना चाहते हैं, उन्हें कुटुम्ब, धन और शरीरसे मोह छोड़ना ही पड़ेगा।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा ऐसी क्या वस्तु है, जिसके उपकारके लिए कुटुम्ब, धन और शरीरसे मोहका छोड़ना आवश्यक है? आचार्य उसका उत्तर देते हुए आत्माका स्वरूप निरूपण करते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अनन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२३॥

यह आत्मा स्वसंवेदन-गम्य है, शरीर-प्रमाण है, अविनश्वर है, अनन्त सौख्यवान् है और लोक-अलोकका अवलोकन करने-वाला है ॥२३॥

भावार्थ—'अहम् अस्मि' इस प्रकारकी प्रतीतिको स्वसंवेदन कहते है। प्रत्येक जीव इस स्वसंवेदनके द्वारा अपनी आत्माका अनुभव कर रहा है। और वह आत्मा अन्यत्र कहीं नहीं, इसी शरीरमें सर्वाङ्ग-व्याप्त है। अविनाशी है, अनन्त ज्ञान, दर्शन और दुःखका भण्डार है। इसकी प्राप्ति बाहरी वस्तुओंका परित्याग किये विना नहीं हो सकती।

आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका उपाय

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२४॥

इन्द्रिय-समुदायका नियमन कर और चित्तको एकाग्रकर आत्मा

अपने ही द्वारा अपनेमें अवस्थित होकर अपने स्वरूपका ध्यान करे ॥२४॥

भावार्थ—आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए बाह्य किसी भी वस्तुके ग्रहणकी आवश्यकता नहीं है, अपितु उनके त्यागकी ही आवश्यकता है। जब यह आत्मा चारों ओरसे अपनी प्रवृत्ति हटाकर, इन्द्रियोंके विषय और मनकी चंचलताको भी रोककर अपने आपमें स्थिर होनेका प्रयत्न करता है, तभी उसे आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति होती है।

आत्मस्वरूपकी उपलब्धिका लाभ

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥२५॥

अध्यात्मयोगसे अर्थात् आत्मस्वरूपकी अनुभूति या उपलब्धिसे कर्मोंका तुरन्त आस्रव रोकनेवाली महानिर्जरा होती है; क्योंकि उस अध्यात्म-दशामें अवस्थित जीवके परीषह-उपसर्ग आदिके कष्टोंका कुछ भी भान नहीं होता है ॥२५॥

जीवके कर्मोंसे बँधने और छूटनेका कारण

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥२६॥

स्त्री-पुत्र-धनादिमें ममता रखनेवाला जीव कर्मोंसे बँधता है और उनमें ममता भाव नहीं रखनेवाला जीव कर्मोंसे छूटता है। इसलिए ज्ञानी जनोंको चाहिए कि वे सर्व प्रकारके प्रयत्नके द्वारा निर्ममत्व-

भावका चिन्तवन करें; अर्थात् पर पदार्थोंमें ममताका त्याग करें ॥२६॥

पर पदार्थोंमें ममता या रागभाव ही बन्धका कारण है

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुञ्चति ।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद् बन्धमोक्षयोः ॥२७॥

रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और वीतरागी कर्मोंसे विमुक्त होता है। संक्षेपमें जिनदेवने बन्ध और मोक्षका इतना ही उपदेश दिया है ॥२७॥

वीतरागी होनेका उपाय

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२८॥

मैं सदाकाल एक हूँ (परके संयोगसे रहित हूँ,) निर्मम हूँ (यह परद्रव्य मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकारके ममत्वभावसे रहित हूँ), शुद्ध हूँ (निश्चयनयकी अपेक्षा द्रव्य-कर्म और भावकर्मसे रहित हूँ), ज्ञानी हूँ (स्व-परके भेद-विज्ञान-रूप विवेक-ज्योतिसे प्रकाशमान हूँ) और योगीन्द्रगोचर हूँ (केवली-श्रुतकेवली आदि महान् योगियोंके ज्ञानका विषय हूँ)। कर्म-संयोगसे प्राप्त बाहरी सभी पदार्थ मेरेसे सर्वथा भिन्न हैं, वे त्रिकालमें भी मेरे नहीं हो सकते ॥२८॥

भावार्थ—इस प्रकारकी परपदार्थोंसे निर्ममत्वरूप निर्मल भावनासे जीव वीतरागी बनता है और कर्मोंसे छुटकारा पाता है।

धन-कुटुम्बादिसे ममत्व छुड़ानेके लिए उपदेश

दुःखसन्दोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम् ।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२९॥

कुटुम्ब, धन और शरीरादिके संयोगसे ही देहियोंको (शरीर-धारी संसारी प्राणियोंको) इस संसारमें सहस्रों दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिए मै मन-वचन-कायसे इन सर्व परपदार्थोंको छोड़ता हूं अर्थात् उनमें ममत्वभावका परित्याग करता हूं ॥२९॥

शरीरकी बाल-वृद्धादि दशाओंके होने पर तथा व्याधि और मृत्युके आनेपर ज्ञानी जीव कैसा विचार करता है—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ?
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥३०॥

जब मैं अजर-अमर हूं, तब मेरी मृत्यु नहीं हो सकती, फिर उसका भय क्यों हो ? जब मुझ चैतन्यमूर्त्तिके कोई व्याधि नहीं हो सकती, तब उसकी व्यथा मुझे क्यों हो ? वास्तवमें मैं न बाल हूँ, न वृद्ध हूँ और न युवा हूँ। ये सब अवस्थाएँ तो पुद्गलमें होती है। फिर इन अवस्थाओंके परिवर्तनसे मुझे रंचमात्र भी दुखी नहीं होना चाहिए ॥३०॥

शारीरिक विषय-भोगोंकी ओर दौड़नेवाली मनोवृत्ति या विषयाभिलाषाको दूर करनेके या रोकनेके लिए ज्ञानी जीव विचारता है—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ? ॥३१॥

मोहवश मैने पाँचों इन्द्रियोंके विषयभूत रूप-रस-गन्ध-स्पर्शात्मक सभी पुद्गल जब बार-बार भोग-भोग कर छोड़े हैं, तब आज उच्छिष्ट भोजनके तुल्य उन्हीं पुद्गलोंमें मुझ ज्ञानीकी अभिलाषा कैसी ? ॥३१॥

भावार्थ—हे आत्मन् , यदि भुक्तोज्झित भी विषयोंमें तेरी अभिलाषा होती है, तो यह बड़े दुःख और लज्जाकी बात है, तुझे इनकी अभिलाषा नहीं होनी चाहिए।

संसारी जीवोंको स्व-उपकार करनेका उपदेश

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥

हे आत्मन्, तू देहादि परवस्तुका उपकार छोड़कर स्वात्माके उपकारमें तत्पर हो। जो शरीरादिक प्रत्यक्षमें ही शत्रुके समान तेरे अनुपकारी हैं, उनका सेवा-सुश्रूषारूप उपकार करता हुआ तू सामान्य लोगोंके समान अज्ञ बन रहा है, यह अति दुःखकी बात है ॥३२॥

स्व-परके अन्तरका ज्ञाता ही मोक्षसुखका भोक्ता होता है—

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्व-परान्तरम् ।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥३३॥

जो पुरुष गुरुके उपदेशसे, अभ्याससे और संवित्ति अर्थात् स्वानुभवसे स्व और परके अन्तर (भेद) को जानता है वही पुरुष निरन्तर मोक्षसुखका अनुभव करता हैं ॥३३॥

भावार्थ—स्व-पर-भेद-विज्ञानी पुरुष ही मोक्षका अधिकारी है, भेद-विज्ञानके बलसे वह संसारसे शीघ्र मुक्त हो जाता है और अनन्तकाल तक बिना किसी अन्तरके मोक्षके सुखका उपभोग करता है। इस श्लोकमें भेद-विज्ञानकी प्राप्तिके तीन कारण बतलाये हैं—गुरूपदेश, अभ्यास और संवित्ति। ये तीनों क्या वस्तु हैं, इस बातका आचार्य स्वयं ही स्पष्टीकरण आगेके श्लोकोंमें कर रहे हैं।

वह गुरु कौन-सा है, जिसके उपदेशसे भेद-विज्ञानकी प्राप्ति होती है, इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

स्वस्मिन् सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥३४॥

'स्व'में सदा अभिलाषी होनेसे, अभीष्टका ज्ञापक होनेसे तथा स्वयं ही आत्म-हितका प्रयोक्ता होनेसे आत्मा ही आत्माका गुरु है ॥३४॥

भावार्थ—वास्तवमें आत्माका गुरु आत्मा ही है, क्योंकि वही सदा अपने भीतर मोक्ष-सुखके पानेकी अभिलाषा किया करता है, वही मोक्ष-सुखके उपाय भूत अभीष्ट वस्तुको जाननेके लिए उत्सुक रहता है और वही स्वयंको मोक्ष सुखके हितरूप दुर्गम मार्ग पर चलनेकी प्रेरणा करता है। यतः गुरुके करनेके योग्य इन तीनों कार्योंको आत्मा ही स्वयं सम्पादन करता है, अतः वह स्वयं ही अपने आपका गुरु है। अन्य आचार्यादिक तो नाम मात्रके गुरु हैं अर्थात् निमित्तमात्र हैं।

अभ्यासका निरूपण

अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्वसंस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥३५॥

जिसके चित्तमें राग-द्वेषादिरूप किसी प्रकारका विक्षेप न हो, जो जन-सम्पर्कसे रहित एकान्त शान्त स्थान पर अवस्थित हो और हेय-उपादेयरूप तत्त्वके विषयमें जिसकी निश्चल बुद्धि हो, ऐसा योगी संयमी जितेन्द्रिय पुरुष अभियोगसे अर्थात् आलस्य, निद्रा और प्रमाद आदिको दूर कर अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपकी भावना करे ॥३५॥

भावार्थ—चित्त-विक्षेपसे रहित होकर और एकान्त स्थानमें बैठकर आत्माके वीतराग शुद्ध स्वरूपकी भावना करनेको अभ्यास कहते हैं । इस अभ्यासके द्वारा ही योगी जन मोक्ष-सुखके कारण-भूत भेद-विज्ञानको प्राप्त करते हैं ।

संवित्तिका स्पष्टीकरण

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥३६॥
यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३७॥

संवित्ति अर्थात् आत्मानुभूति या स्वानुभवमें जैसे जैसे उत्तम तत्त्व अर्थात् आत्माका शुद्ध स्वरूप सम्मुख आता जाता है, वैसे वैसे ही सहज सुलभ भी इन्द्रियोंके विषय अरुचिकर लगने लगते हैं । और जैसे जैसे सहज सुलभ भी इन्द्रिय-विषय अरुचिकर लगने लगते हैं, वैसे वैसे ही स्वानुभवमें आत्माका शुद्ध स्वरूप सामने आता जाता है ॥३६–३७॥

भावार्थ—पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्ति, ग्लानि या उदासीनता ही स्वात्मानुभूति रूप संवित्तिका प्रधान कारण है और संवित्ति भेद-विज्ञानकी कारण है।

स्वात्म-संवित्तिके होनेपर आत्माकी अन्तरंग अवस्थाका वर्णन

निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३८॥
इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादरः।
निजकार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥३९॥
ब्रुवन्नपि न हि ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति॥
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४०॥

जिसे स्वात्म-संवित्ति हो जाती है, उसे यह समस्त जगत् इन्द्रजालके समान दिखाई देने लगता है, वह केवल स्वात्म-स्वरूपके लाभकी ही अभिलाषा करता है और किसी वस्तुके पानेकी उसके इच्छा नहीं रहती। यदि कदाचित् किसी पदार्थमें उसकी प्रवृत्ति हो जाती है, तो उसे अत्यन्त पश्चात्ताप होता है। मनुष्योंके साथ बैठकर मनोरंजन करनेमें उसे कोई आनन्द नहीं आता, अत एव वह निर्जन एकान्त वासकी इच्छा करता है। जन-संवासमें उसे कोई आदर नहीं रहता इस लिए वह जन-सम्पर्कसे दूर रहना चाहता है। यदि कदाचित् निजी कार्यके वशसे किसीसे कुछ कहना पड़ता है, तो कह कर उसे शीघ्र भूल जाता है। वस्तुतः आत्मस्वरूपमें जिसकी स्थिरता हो जाती है, वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, चलता हुआ भी नहीं चलता है और देखता हुआ भी नहीं देखता है ॥३८-४०॥

कहनेका सारांश यह है कि स्वात्मानुभवी जीव बाहरी सभी कार्योंको अन्यमनस्क होकर करता है, क्योंकि उसका उपयोग तो सतत आत्मस्वरूपकी ओर उन्मुख रहता है।

उपर्युक्त प्रकारसे स्वात्मानुभव करनेवाले योगीको अपने देह का भी भान नहीं रहता—

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४१॥

अनुभवमें आने वाली वस्तु क्या है, कैसी है, उसका स्वामी कौन है, वह किससे प्रकट होती है और उसकी अवस्थिति कहाँ है? इस प्रकारके विकल्पोंसे रहित होता हुआ योग-परायण योगी अपने देहको भी नहीं जानता है ॥४१॥

भावार्थ—ध्यान या आत्मानुभवकी दशामें ध्याताके न कोई अन्तरंग विकल्प रहता है और न कोई शरीरादि-सम्बन्धी बाह्य विकल्प रहता है।

ज्ञानी जन आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके लिए ही क्यों उद्यम करते हैं, आचार्य इसका कारण बतलाते हैं—

परः परस्ततः दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥४२॥

परपदार्थ पर है, अतः उसकी इच्छा करना ही दुख है, और आत्म-पदार्थ अपना ही है, अतः उसकी इच्छा करना सुख है।

ऐसा जानकर ही महापुरुष आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके लिए उद्यम किया करते हैं ॥४२॥

परपदार्थकी इच्छाका फल

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत् ।
न जातु जन्तोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥४३॥

जो अज्ञानी जीव देहादि रूप पुद्गल द्रव्यको अपना मानकर उसका अभिनन्दन करता है, वह पुद्गल द्रव्य चारों गतियोंमें उस जीवका कदाचित् भी सामीप्य नहीं छोड़ता है ॥४३॥

भावार्थ—हेय व उपादेयका विवेक न होनेसे जो शरीरादि पौद्गलिक पदार्थोंको अपना मानता है, उनके इष्ट-विषयोंकी अभिलाषा कर अभिनन्दन करता है, उसमें मोहित होता है और अनिष्ट से द्वेष करता है, वह इस राग-द्वेषरूप परिणतिसे निरन्तर नवीन कर्मोंका बन्ध करता रहता है और इस कारण उसे सदा चतुर्गति रूप संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है। इसलिए ज्ञानीजन परपदार्थकी इच्छा नहीं करते हैं।

स्व-स्वरूपके अपनानेका रहस्य

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४४॥

प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहारसे दूर रहने वाले और एकमात्र आत्माके अनुष्ठानमें निष्ठ योगीके योग-बलसे कोई अनिर्वचनीय परम आनन्द प्राप्त होता है। इसी कारण वह आत्मस्वरूपकी प्राप्ति

के लिए सदा उद्यमशील रहता है और परसे दूर रहनेका प्रयत्न किया करता है ॥४४॥

अब आचार्य उस परम आनन्दका कार्य बतलाते हैं—

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम् ।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४५॥

वह परम आनन्द आत्माके भीतर अनादिकालसे संचित हुए कर्मरूप ईंधनको निरन्तर प्रबल वेगसे जलाता रहता है और ध्यानावस्थामें वह आनन्द-पूर आत्मामें इतने वेगसे प्रवाहित होता है कि उस समय बाहरी परीषह तथा उपसर्ग-जनित महान् दुःखोंके आनेपर भी योगी उनसे अपरिचित रहता है और इस कारण वह रंचमात्र भी दुःखोंको प्राप्त नहीं होता है ॥४५॥

भावार्थ—उस परम आनन्दमें निमग्न योगीके बाहरी दुःखोंका भान भी नहीं होता और इसी कारण वह क्षणमात्रमें शुक्लध्यानरूपी अग्निसे कर्मरूपी ईंधनको भस्मसात् कर देता है।

अब आचार्य मुमुक्षु जनोंको सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि जब ध्यानावस्थामें उत्पन्न हुए आनन्दकी इतनी अपार महिमा है, तब निरन्तर उसीकी उपासना करनी चाहिए—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४६॥

यतः वह परम ज्ञानमय महान् ज्योति कर्म-जनित अविद्यारूप अज्ञानान्धकारकी विनाशक है, अतः मुमुक्षु जनोंको एकमात्र उसीके विषयमें पूछना चाहिए, उसीकी अभिलाषा करनी चाहिए और उसीका अनुभव करना चाहिए ॥४६॥

भावार्थ—जो जीव संसारके क्लेशोंसे छूटना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे अन्य सर्व कार्य छोड़कर एकमात्र उसी परम ज्योतिकी उपासना करें, जिसके प्रतापसे अनादिकालीन अज्ञानान्धकार क्षणभरमें विनष्ट हो जाता है।

अब आचार्य अपने उपर्युक्त कथनका उपसंहार करते हुए मुमुक्षु जनोंके लिए प्रयोजनभूत सार तत्त्वका उपदेश देते हुए कहते हैं—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥४७॥

जीव शरीरादिरूप जड़ पुद्गलसे भिन्न है और पुद्गल ज्ञानरूप चेतन आत्मासे भिन्न है, इतना ही तत्त्वका संग्रह है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसीका विस्तार है ॥४७॥

भावार्थ—समस्त धर्मशास्त्रोंके उपदेशका सार इतना ही है कि शरीरादि पौद्गलिक पदार्थोंको आत्मासे भिन्न जानकर उनमें राग, द्वेष और मोह मत करो। आत्माके कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेका परम आनन्द या अनन्त सुख प्राप्त करनेका मूलमन्त्र इतना ही है।

आचार्यके उपदेशसे प्रबुद्ध हुआ ज्ञानी विचार करता है—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥४८॥

इन्द्रियोंके द्वारा जो शरीरादिकरूपी पदार्थ दिखाई दे रहा है वह अचेतन होनेसे कुछ भी नहीं जानता। और जो पदार्थोंको

जानने वाला चैतन्य रूप है वह मुझे इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं देता ? इसलिए मैं किससे बोलूँ और किसके साथ बात करूँ ॥४८॥

बोध्य-बोधक या प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भावकी मीमांसा

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान्प्रतिपादये ।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥४९॥

मैं गुरुजनोंसे जो कुछ प्रतिपादित किया जाता हूँ तथा शिष्यादिकोंको जो कुछ प्रतिपादन करता हूँ वह सब मेरी पागलों जैसी चेष्टा है, क्यों कि मैं वास्तवमें निर्विकल्प हूँ अर्थात् इन सभी वचन-विकल्पोंसे अग्राह्य हूँ ॥४९॥

ज्ञानी पुरुष विचारता है कि मैं न अग्राह्यका ग्राहक हूँ और न स्व स्वरूपका छोड़ने वाला ही हूँ। मै तो सदा स्व संवेदनगोचर और सर्वका ज्ञायक हूँ।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥५०॥

जो शुद्धात्मा ग्रहण न करने योग्य वस्तुको ग्रहण नहीं करता है और ग्रहण किये हुए अनन्तज्ञानादि गुणोंको छोड़ता नहीं है, तथा सम्पूर्ण पदार्थोंको सर्व प्रकारसे जानता है, वही, अपने द्वारा अनुभवमें आनेके योग्य चैतन्यद्रव्य मैं हूँ ॥५०॥

ज्ञानी पुरुष विचारता है कि भेद-विज्ञान होनेके पूर्व मेरी कैसी चेष्टा थी—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥५१॥

जिसे स्थाणुमें (सूखे वृक्षके ठूँठमें) पुरुषपनकी भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है ऐसे मनुष्यकी जिस प्रकार विकृत अथवा विपरीत चेष्टा होती है, उसी प्रकारकी चेष्टा शरीरादि पर पदार्थोंमें आत्माका भ्रम होनेके कारण आत्मज्ञानसे पहले मेरी थी ॥५१॥

और अब भेद-विज्ञान होनेपर मेरी चेष्टा किस प्रकारकी हो गई है—

> यथासौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे ।
> तथा चेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥५२॥

जिसे स्थाणुमें पुरुषका भ्रम हो गया था वह पुरुष स्थाणुमें 'यह पुरुष है' ऐसे मिथ्याभिनिवेशके निवृत्त हो जाने पर जिस प्रकार उससे अपने उपकारादिकी कल्पनाको त्यागनेकी चेष्टा करता है, उसी प्रकार शरीरादिकमें आत्मपनेके भ्रमसे रहित हुआ मैं भी देहादिमें अपने उपकारादिकी बुद्धिको छोड़नेमें प्रवृत्त हुआ हूँ ॥५२॥

ज्ञानी पुरुष अपने आपको लिङ्ग और संख्याके विकल्पोंसे रहित शुद्ध रूपमें अनुभव करता है—

> येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
> सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥५३॥

जिस चैतन्यस्वरूपसे अपनी आत्मामे ही अपने स्वसवेदन ज्ञानके द्वारा अपनी आत्माको आपही अनुभव करता हूँ वही शुद्धात्मस्वरूप मै न तो नपुंसक हूँ, न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ, न एक हूँ, न दो हूँ, और न बहुत हूँ। किन्तु अखण्ड चैतन्य पिण्डरूप हूँ ॥५३॥

आत्म-स्वरूपकी अनुभव-गम्यता

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।।५४।।

जिस शुद्धात्म-स्वरूपकी प्राप्ति न होनेसे मैं अब तक मोह-निद्रा में सोता रहा और जिस शुद्धात्म स्वरूपकी प्राप्ति होने पर मैं जागृत हुआ हूँ अर्थात् यथावत् वस्तुस्वरूपको जानने लगा हूँ; वह शुद्धात्म-स्वरूप अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है और अनिर्देश्य है अर्थात् वचनादिके भी अगोचर है। वह तो केवल अपने द्वारा आप ही अनुभव करने योग्य है, उसी रूप मैं हूँ ।।५४।।

भावार्थ—मेरा स्वरूप तो अतीन्द्रिय, अनिर्देश्य और स्वसंवेदन-गम्य है। ज्ञानी पुरुष विचारता है कि मैं ज्ञान स्वरूप हूँ, मेरा न कोई शत्रु है और न कोई मेरा मित्र है।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ।।५५।।

वस्तुतः ज्ञानस्वरूप निज अत्माको साक्षात् देखने अर्थात् अनुभव करने वाले मेरे इस जन्ममें ही राग, द्वेष, क्रोध, मान, मायादिक दोष नष्ट हो रहे हैं, अतः मेरा न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है ।।५५।।

ज्ञानी विचारता है कि वस्तुतः संसारमें मेरा कोई शत्रु या मित्र नहीं है—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ।।५६।।

मेरे आत्म-स्वरूपको नहीं देखने वाला यह अज्ञ प्राणिवृन्द न

मेरा शत्रु है और न मित्र है। तथा मेरे आत्मस्वरूपको देखने वाला यह प्रबुद्ध प्राणिसमूह न मेरा शत्रु है और न मित्र है ॥५६॥

अब आचार्य बहिरात्म दशाको छोड़कर अन्तरात्मा बनने और परमात्माकी भावना करनेका उपदेश देते हैं—

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसङ्कल्पवर्जितम् ॥५७॥

इस प्रकार बहिरात्मपनेको छोड़कर अन्तरात्मामें स्थिर होते हुए सर्व संकल्प-विकल्पोंसे रहित परमात्माका ध्यान करना चाहिए ॥५७॥

अब आचार्य बतलाते हैं कि परमात्मपदकी भावना करनेसे ही जीव आत्मस्वरूपमें स्थिरताको प्राप्त करता है—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥५८॥

उस परमात्मपदमें भावना करते रहनेसे वह अनन्त ज्ञान स्वरूप परमात्मा मैं हूँ इस प्रकारके संस्कारको प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष पुनः पुनः उस परमात्मपदमें आत्मस्वरूपकी भावना करता हुआ उसी परमात्मस्वरूपमें संस्कारकी दृढताके हो जानेसे निश्चयतः अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थिरताको प्राप्त होता है ॥५८॥

जो मूढात्मा आत्म-साधनाको आपत्तिका घर समझता है, आचार्य उसे सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥५९॥

अज्ञानी बहिरात्मा जिन शरीर, पुत्र, मित्रादि बाह्य पदार्थोंमें 'ये

मेरे हैं, मैं इनका हूँ' ऐसा विश्वास करता है, उन शरीर-स्त्री-पुत्रादि बाह्य पदार्थोंसे बढ़कर और कोई भयका स्थान नहीं है, और जिस परमात्मस्वरूपके अनुभवसे वह भयभीत रहता है उसके सिवाय कोई दूसरा आत्माके लिए निर्भयताका स्थान नहीं है ॥५९॥

शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका उपाय

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥६०॥

सम्पूर्ण—पाँचों इन्द्रियोंको अपने विषयोंमें यथेष्ट प्रवृत्ति करनेसे रोककर मनको स्थिर करना चाहिए और उस स्थिर हुए मनके द्वारा क्षणमात्रके लिए अनुभव करनेवाले जीवके जो चिदानन्दस्वरूप प्रतिभासित होता है, वही परमात्माका स्वरूप है ॥६०॥

अब आचार्य शुद्ध आत्मा और परमात्मामें अभेद बतलाते हुए स्वात्माकी उपासनाका उपदेश देते है—

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥६१॥

जो परमात्मा है, वह ही मैं हूँ, तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है इसलिए जब कि परमात्मा और आत्मामें अभेद है तो मैं ही मेरे द्वारा उपासना किये जाने योग्य हूँ। दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं है ? यही वास्तविक स्थिति है ॥६१॥

ज्ञानी विचारता है कि विषय-भोगोंसे निज प्रवृत्ति हटाकर मैं परम ज्ञान और आनन्दमय स्वात्माको प्राप्त हुआ हूँ—

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ॥६२॥

मैं अपनेमें ही स्थित ज्ञानस्वरूप परम आनन्दसे परिपूर्ण अपनी आत्माको पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे छुडाकर अपने ही द्वारा आत्म-स्वरूपको प्राप्त हुआ हूँ ॥६२॥

स्व-परके विवेकसे रहित परम तपस्वी भी निर्वाणको नहीं पाता—

> यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
> लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ॥६३॥

उक्तप्रकारसे जो अविनाशी आत्माको शरीरसे भिन्न नहीं जानता है वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्षको प्राप्त नहीं कर पाता ॥६३॥

आत्मानन्दका अनुभव करने वाला घोर तपश्चरण-जनित दुःख को सहते हुए भी खेद-खिन्न नहीं होता—

> आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
> तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥६४॥

आत्मा और शरीरके भेद-विज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दसे जो आनन्दित है, वह द्वादश प्रकारके तपके द्वारा उदयमें आये भयानक दुष्कर्मोंके फलको भोगता हुआ भी खेदको प्राप्त नहीं होता है ॥६४॥

वीतरागी पुरुष ही आत्म-तत्त्वका साक्षात्कार कर सकता है, रागी-द्वेषी नहीं कर सकता—

> रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम् ।
> स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ॥६५॥

जिसका मनरूपी जल राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया लोभादिक

तरंगोंसे चंचल नहीं होता वही पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको देखता है अर्थात् अनुभव करता है। उस आत्मतत्त्वको इतर जन अर्थात् राग-द्वेषादिकल्लोलोंसे आकुलित चित्तवाला मनुष्य नहीं देख सकता ॥६५॥

अतः ज्ञानीको सदा मनके निर्विकल्प रखनेका प्रयास करना चाहिए—

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥६६॥

रागादि परिणतिसे रहित तथा शरीर और आत्माको एक मानने रूप मिथ्या अभिप्रायसे रहित जो स्वरूपमें स्थिर मन है वही आत्माका वास्तविक रूप है, और रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा आत्माके भेद-ज्ञानसे शून्य मन है वह आत्माका विभ्रम है अर्थात् आत्माका निज स्वरूप नहीं है। इसलिए उस राग-द्वेषादिसे रहित अविक्षिप्त निर्विकल्प और प्रशान्त मनको धारण करना चाहिए और राग-द्वेषादिसे क्षुब्ध हुए मनको आश्रय नहीं देना चाहिए ॥६६॥

क्योंकि सङ्कल्प-विकल्पोंसे मन विक्षिप्त होता है और निर्विकल्पतासे मन आत्मस्वरूपमें स्थिर होता है—

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञान-संस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥६७॥

शरीरादिको शुचि, स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या या अज्ञान है, उसके पुनः पुनः प्रवृत्ति रूप अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा मन स्वाधीन न रहकर विक्षिप्त हो जाता है अर्थात् रागी-द्वेषी बन जाता है और वही मन आत्मा और देहके

भेद-विज्ञानरूप विद्याके संस्कारों द्वारा स्वयं ही आत्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है ॥६७॥

अब आचार्य बतलाते है कि विक्षिप्त चित्तवाला मनुष्य ही अपमानादिका अनुभव करता है, अविक्षिप्त चित्तवाला नहीं—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥६८॥

जिसका चित्त विक्षिप्त है अर्थात् राग-द्वेषादिरूप परिणत हो रहा है उसीको अपमानादिका अनुभव होता है। जिसका चित्त विक्षिप्त नहीं है उसको अपमान-तिरस्कारादिका अनुभव नहीं होता ॥६८॥

मान-अपमानके दूर करनेका उपाय

यदा मोहात्प्रजायेते राग-द्वेषौ तपस्विनः ।
तदैव भावयेत् स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥६९॥

जिस समय किसी तपस्वी योगीके मोहके उदयसे मान-अपमान-जनित राग-द्वेष उत्पन्न होवें, उसी समय वह अपने स्वस्थ शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावना करे। आत्मस्वरूपकी भावनासे वे रागद्वेषादिक क्षणभरमें शान्त हो जाते है ॥६९॥

अब आचार्य शरीरमें रागभावके उत्पन्न होने पर उसके शान्त करनेका उपाय बतलाते हैं—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥७०॥

जिस शरीरमें मुनिका अर्थात् ज्ञानी अन्तरात्माका प्रेम-स्नेह या राग हो रहा है उसे भेद-विज्ञानके द्वारा आत्मासे पृथक् कर चिदानन्दमय उत्तम कायमें लगावे, अर्थात् आत्मस्वरूपमें उपयुक्त

हो। ऐसा करनेसे बाह्य शरीर और इन्द्रिय-विषयोंमें होने वाला प्रेम या रागभाव नष्ट हो जाता है ॥७०॥

अब आचार्य सङ्कल्प-विकल्प-जनित दुःखके शान्त करनेका उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि आत्म-ज्ञानके बिना परम तपश्चरण करने पर भी मुक्तिकी प्राप्ति सम्भव नहीं है—

आत्म-विभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥७१॥

शरीरादिकमें आत्म-बुद्धिरूप विभ्रमसे उत्पन्न होने वाला दुःख आत्मज्ञानसे अर्थात् शरीरादिसे भिन्नरूप आत्मस्वरूपके अनुभव करनेसे शान्त हो जाता है। अतएव जो पुरुष भेद-विज्ञानके द्वारा आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेमें प्रयत्न नहीं करते, वे उत्कृष्ट एवं दुर्द्धर तपको करके भी निर्वाणको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते हैं ॥७१॥

अब आचार्य बतलाते हैं कि तपश्चरण करके ज्ञानी और अज्ञानी क्या चाहता है—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति ।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥७२॥

शरीरमें जिसको आत्म-बुद्धि उत्पन्न हो गई है ऐसा अज्ञानी बहिरात्मा तप करके सुन्दर शरीर और उत्तमोत्तम दिव्य विषय-भोगों को चाहता है। किन्तु ज्ञानी अन्तरात्मा शरीर और तत्सम्बन्धी विषयोंसे छूटना चाहता है ॥७२॥

अब आचार्य बतलाते हैं कि परमें स्व-बुद्धि करनेसे अज्ञानी बँधता है और स्वमें स्व-बुद्धि करनेसे ज्ञानी छूटता है—

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥७३॥

शरीरादिक परपदार्थोंमें जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है ऐसा आत्मस्वरूपसे भ्रष्ट हुआ अज्ञानी निःसन्देह अपनेको कर्मबन्धनोंसे बाँधता है । किन्तु अपने आत्म-स्वरूपमें ही आत्म-बुद्धि रखने वाला ज्ञानी शरीरादि परके सम्बन्धसे च्युत होकर कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥७३॥

ज्ञानी-अज्ञानीकी मनोवृत्तिका निरूपण

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥७४॥

अज्ञानी जीव इस दिखाई देने वाले शरीरको स्त्री, पुरुष, नपुंसकके भेदसे यह आत्मतत्त्व त्रिलिंग रूप है ऐसा मानता है किन्तु आत्मज्ञानी पुरुष यह आत्मतत्त्व त्रिलिंगरूप नहीं है, वह अनादि संसिद्ध ज्ञायक स्वभाव है तथा शब्दोंके अगोचर है अर्थात् नामादिक विकल्पोंसे रहित है, ऐसा मानता है ॥७४॥

ज्ञानी जीव भी पूर्व संस्कारके उदयसे बार-बार आत्मस्वरूपसे च्युत हो जाता है—

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति ॥७५॥

अपने आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वरूपको जानता हुआ भी और शरीरादि अन्य परपदार्थोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ भी ज्ञानी जीव पहले अज्ञान-दशामें संचित किये हुए विपरीत संस्कारोंके

वशसे पुनरपि भ्रान्तिको प्राप्त हो जाता है अर्थात् आत्मस्वरूपसे च्युत हो जाता है ॥७५॥

भ्रान्तिको दूर करनेका उपाय

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि, मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥७६॥

आत्म-स्वरूपसे च्युत होने पर उसकी प्राप्तिके लिए ज्ञानी जीव ऐसा विचार करे—यह जो दृष्टिगोचर होनेवाला द्रव्यसमुदाय है वह सब अचेतन है, जड़ है और जो चैतन्य स्वरूप आत्मा है वह इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए मैं किसपर रुष्ट होऊँ और किसपर सन्तुष्ट होऊँ, अतः अब तो मै राग-द्वेषका परित्यागकर मध्यस्थभावको धारण करता हूँ ॥७६॥

अब आचार्य अज्ञानी (बहिरात्मा) ज्ञानी (अन्तरात्मा) और पूर्णज्ञानी (परमात्मा) के त्याग और ग्रहणका स्पष्टीकरण करते हैं—

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥७७॥

मूढ, अज्ञानी या बहिरात्मा बाह्य पदार्थोंका त्याग और ग्रहण करता है अर्थात् द्वेषके उदयसे जिन्हें अनिष्ट समझता है उन्हें छोड़ देता है और रागके उदयसे जिन्हें इष्ट समझता है उन्हें ग्रहण कर लेता है। आत्म-स्वरूपका ज्ञाता ज्ञानी, या अन्तरात्मा अन्तरङ्गमें उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष या सङ्कल्प-विकल्पोंका त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप निजभावोंको ग्रहण करता है। किन्तु शुद्धस्वरूपमें स्थित जो कृत-

कृत्य परमात्मा हैं उसके अन्तरंग और बहिरंग किसी भी पदार्थका न तो त्याग होता है और न ग्रहण ही होता है ॥७७॥

ज्ञानी पुरुष अन्तरंगमें उत्पन्न होनेवाले भावोंका त्याग और ग्रहण किस प्रकार करे? आचार्य इसके लिए मार्ग-प्रदर्शन करते हैं—

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥७८॥

आत्माको मनके साथ संयोजित करे—अर्थात् चित्त और आत्माका अभेदरूपसे अध्यवसाय करे, वचन और कायसे अलग करे, उन्हें आत्मा न समझे और वचन, कायसे किये हुए व्यवहारको मनसे छोड़ देवे, उसमें चित्तको न लगावे ॥७८॥

भावार्थ—अन्तरंगमें उत्पन्न होनेवाले संकल्प-विकल्प और राग-द्वेषादि औपाधिक भावोंका त्याग और ज्ञान-दर्शनादि स्वाभाविक भावोंका ग्रहण करनेके लिए ज्ञानीको चाहिए कि वह अपनी आत्माको शुद्ध मनके साथ तन्मय करे और वचन तथा काय-सम्बन्धी सर्वकार्योंको छोड़कर आत्म-चिन्तनमें तल्लीन हो। यदि परिस्थिति वश वचन और कायकी क्रिया करनी भी पड़े, तो अना-सक्ति या उदासीन भावसे करे, किन्तु उसमें लिप्त न हो। इसी एक मार्गके द्वारा ज्ञानी अपने संकल्प-विकल्पोंपर विजय पा सकता है और आत्मासे परमात्मा बन सकता है।

अब आचार्य बतलाते हैं कि स्त्री-पुत्रादि और सांसारिक वैभव अज्ञानीको ही अच्छे लगते हैं, पर ज्ञानीको यह सब इन्द्रजाल-सा दिखाई देता है, इसलिए वह इनमें आसक्त नहीं होता—

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च ।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥७९॥

शरीरमें आत्मदृष्टि रखनेवाले अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओं को यह स्त्री-मित्र-पुत्रादिका समूह रूप संसार विश्वासके योग्य और रमणीय प्रतीत होता है। परन्तु अपने आत्मामें ही आत्मदृष्टि रखनेवाले ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओंको इन स्त्री-पुत्रादि पर-पदार्थोंमें कहाँ विश्वास हो सकता है और कहाँ आसक्ति हो सकती है? कहीं भी नहीं? इसलिए वह इनमें सदा अनासक्त ही रहता है ॥७९॥

ज्ञानीको आत्माकी ओर अग्रसर करनेके लिए मार्ग-दर्शन

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥८०॥

ज्ञानीको चाहिए कि वह आत्मज्ञानसे भिन्न दूसरे कार्यको अधिक समय तक अपनी बुद्धिमें धारण नहीं करे। यदि स्व-परके उपकारादि रूप प्रयोजनके वश वचन और कायसे कुछ करना ही पड़े तो उसे अनासक्त होकर करे। यही संसारसे मुक्त होनेका मूल मन्त्र है ॥८०॥

ज्ञानी जीव क्या विचारता है

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥८१॥

ज्ञानी विचारता है कि जिन शरीरादि बाह्य पदार्थोंको मैं इन्द्रियोंके द्वारा देखता हूँ वह मेरा स्वरूप नहीं है किन्तु अन्तरंगमें जिस उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञान-प्रकाशको देखता हूँ, अनु-

भव करता हूँ, वही मेरा वास्तविक स्वरूप है और वही सदा बना रहना चाहिए ॥८१॥

अब आचार्य बतलाते है कि ध्यानाभ्यासकी प्रारम्भिक दशामें ही दुःखकी प्रतीति होती है, किन्तु पीछे तो परम सुखकी अनुभूति होने लगती है—

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥८२॥

· जिसने आत्मभावनाका अभ्यास करना अभी आरम्भ किया है, उस योगीको अपने पुराने संस्कारोंके कारण बाह्य-विषयोंमें सुख मालूम होता है और आत्मस्वरूपकी भावनामें दुःख प्रतीत होता है। किन्तु यथावत् आत्मस्वरूपको जानकर उसकी (दृढ़) भावना वाले योगीको बाह्य विषयोंमें दुःखकी प्रतीति होने लगती है और अपने आत्माके स्वरूपचिन्तनमें ही सुखकी अनुभूति होती है ॥८२॥

ज्ञानी आत्मस्वरूपकी भावना किस प्रकार करे ?

तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥८३॥

उस आत्मस्वरूपका कथन करे—उसे दूसरोंको बतलावे उस आत्मस्वरूपको दूसरे विशेष ज्ञानियोंसे पूछे, उस आत्मस्वरूपकी इच्छा करे और उस आत्म-स्वरूपकी भावनामें तत्पर हो; जिससे यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप छूटकर ज्ञानमय परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति होवे ॥८३॥

ज्ञानी अज्ञानीकी मनःस्थितिका विश्लेषण

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः ।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥८४॥

वचन और शरीरमें जिसकी भ्रान्ति हो रही है—जो उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझता ऐसा अज्ञानी वचन और शरीरमें आत्माका अध्यास करता है अर्थात् वचन और शरीरको आत्मा मानता है। किन्तु वचन और शरीरमें आत्माकी भ्रान्ति न रखने वाला ज्ञानी पुरुष इस शरीर और वचनके स्वरूपको आत्मासे भिन्न ही मानता है ॥८४॥

अब आचार्य बतलाते हैं कि इन्द्रियोंके विषयोंमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो आत्माके लिए श्रेयस्कर हो, किन्तु अज्ञानी फिर भी उनमें ही रमा रहता है—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥८५॥

पाँचो इन्द्रियोंके विषयोंमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो आत्माका भला करनेवाला हो, तो भी यह अज्ञानी जीव अनादि कालके अज्ञान भावनासे उत्पन्न संस्कारके कारण उन्हीं इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है ॥८५॥

अनादिकालीन संस्कारका स्पष्टीकरण

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥८६॥

ये मूढ़ अज्ञानी जीव अविद्यारूपी अन्धकारके उदयवश अनादि कालसे नित्य निगोदादिक कुयोनियोंमें सो रहे हैं और अतीव

जड़ताको प्राप्त हो रहे हैं। यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियोंमें उत्पन्न होकर कदाचित् जागते भी हैं तो सर्वथा भिन्न स्त्री-पुत्रादिकमें 'ये मेरे हैं' और अनात्मभूत शरीरादिकोंमें 'म ही इनरूप हूँ' ऐसा अध्यवसाय करने लगते है ॥८६॥

अध्यवसायको छुड़ानेके लिए मार्ग

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः ॥८७॥

ज्ञानीको चाहिए कि अपने आत्मस्वरूपमें स्थित होकर अपने शरीरको 'यह शरीर मेरा आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धिसे सदा देखे—अनुभव करे और दूसरे प्राणियोंके शरीरको 'यह शरीर परका आत्मा नहीं' ऐसी अनात्म बुद्धिसे सदा अवलोकन करे ॥८७॥

स्वात्मानुभव-मग्न अन्तरात्माके विचार

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा ।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥८८॥

जैसे ये अज्ञानी जीव बिना बताये हुए मेरे आत्मस्वरूपको नहीं जानते है वैसे ही बतलाये जानेपर भी नहीं जानते है, इसलिए उन मूढ पुरुषोंको बतलानेका मेरा परिश्रम व्यर्थ है ॥८८॥

उक्त कथनका स्पष्टीकरण

यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥८९॥

जिस आत्मस्वरूपको शब्दोंके द्वारा दूसरेको समझानेकी मैं इच्छा करता हूँ, वह मै नहीं हूँ, और जो ज्ञानानन्दमय, स्वयं

अनुभव करनेयोग्य मैं हूँ वह भी दूसरे जीवोंके उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हूँ, क्योंकि शब्दोंके द्वारा उसका प्रतिपादन सम्भव नहीं है। वह तो स्वसंवेदनके द्वारा ही अनुभव करनेके योग्य है। इसलिए दूसरे जीवोंको मैं क्या समझाऊँ? ॥८९॥

अज्ञानीकी वहिर्मुखी प्रवृत्तिका कथन

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥९०॥

अन्तरंगमें जिसकी ज्ञानज्योति मोहसे आच्छादित हो रही है—ऐसा अज्ञानी बाह्य शरीरादि परपदार्थोंमें ही संतुष्ट रहता है और उनमें ही आनन्द मानता है। किंतु मिथ्यात्वके अभावसे प्रबोधको प्राप्त ज्ञानी बाह्य शरीरादि पदार्थोंमें अनुराग-रहित होकर अपने अन्तरंग आत्मस्वरूपमें ही सन्तोष पाता है ॥९०॥

परपदार्थोंके निग्रह या अनुग्रहकी बुद्धि

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥९१॥

ये शरीर सुखों तथा दुःखोंको नहीं जानते हैं, तो भी अज्ञानी जीव इन शरीरोंमें ही, उपवास आदिद्वारा दण्डरूप निग्रहकी और अलंकारादि द्वारा अलंकृत करने रूप, अनुग्रहकी बुद्धि धारण करते हैं ॥९१॥

जीवकी सांसारिक स्थिति और उससे मुक्ति

स्वबुद्ध्या यावद् गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥९२॥

जब तक शरीर, वचन और मन इन तीनोंको आत्मबुद्धिसे ग्रहण किया जाता है, तभी तक संसार है और जब आत्मासे इन तीनोंकी भिन्नताका अभ्यास हो जाता है, तब मुक्ति प्राप्त होती है ॥९२॥

ज्ञानी शरीरके पुष्ट होनेसे आत्माको पुष्ट नहीं मानते

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥९३॥

जिस प्रकार सघन या मोटा वस्त्र पहिन लेने पर बुद्धिमान् पुरुष अपने शरीरको मोटा नहीं मानता है, उसी प्रकार अपने शरीरके भी पुष्ट होने पर ज्ञानी पुरुष अपनेको पुष्ट नहीं मानता ॥९३॥

ज्ञानी शरीरके जीर्ण होनेपर आत्माको जीर्ण नहीं मानता

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥९४॥

जिस प्रकार पहने हुए वस्त्रके जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर विद्वान् पुरुष अपने शरीरको जीर्ण हुआ नहीं मानता है, उसी प्रकार अपने शरीरके भी जीर्ण होनेपर विद्वान् अपनी आत्माको जीर्ण हुआ नहीं मानता ॥९४॥

ज्ञानी शरीरके रक्त वर्ण होनेपर भी आत्माको वैसा नहीं मानता

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥९५॥

जिस प्रकार पहने हुए वस्त्रके लाल होनेपर ज्ञानी पुरुष अपने शरीरको लाल वर्णका नहीं मानता है, उसी प्रकार अपने शरीरके

लाल होने पर भी ज्ञानी पुरुष अपनी आत्माको लाल रंगका नहीं मानता ॥९५॥

ज्ञानी शरीरके नष्ट होनेपर अपना विनाश नहीं मानता

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥९६॥

जिस प्रकार पहने हुए कपड़ेके नष्ट हो जानेपर ज्ञानी पुरुष अपने शरीरको नष्ट हुआ नहीं मानता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने देहके नष्ट हो जानेपर भी अपनी आत्माको नष्ट हुआ नहीं मानता ॥९६॥

परम शान्तिको कौन प्राप्त करता है?

यस्य सस्पन्दमाभाति निष्पन्देन समं जगत् ।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥९७॥

जिस पुरुषको सस्पन्द अर्थात् हलन-चलनादि क्रिया करता हुआ यह जगत् निष्पन्द या निश्चेष्ट प्रतिभासित होने लगता है, वह ज्ञानी पुरुष ही वीतराग परम-शान्तिको प्राप्त करता है, अन्य अज्ञानी पुरुष नहीं ॥९७॥

आत्मज्ञानसे रहित अज्ञानी जीव ही चिरकाल तक संसारमें परिभ्रमण करता है—

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः ।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥९८॥

बाह्य शरीररूपी कांचलीसे जिसका ज्ञानरूपी अन्तर्देह ढँका हुआ है, ऐसा अज्ञानी जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता, इसलिए वह संसारमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता है ॥९८॥

पूरण-गलन-स्वभावी शरीरमें आत्माकी कल्पना

प्रविशद्-गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥९९॥

आने और जानेवाले परमाणुओंके समुदायरूप देहमें स्थितिकी भ्रान्तिसे अज्ञानी जन उसे ही आत्मा समझने लगते हैं ॥९९॥

अज्ञानी जीव शरीरके गोरे-काले आदि होनेसे अपनेको गोरा काला आदि समझता है पर ज्ञानी ही ज्ञानरूप शरीरको अपना शरीर मानता है ।

नये योगाभ्यासियोंको उपदेश

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलं ज्ञप्तिविग्रहम् ॥१००॥

मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ, इस प्रकार शरीरके साथ अपनेको एकरूप नहीं समझते हुए सदा ही अपनी आत्माको केवल ज्ञानरूपी शरीरवाला समझना चाहिए ॥१००॥

चित्तकी स्थिरतासे मुक्ति-प्राप्ति

मुक्तिरैकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥१०१॥

जिस पुरुषके चित्तमें आत्मस्वरूपकी अचल धारणा है, उसकी नियमसे मुक्ति होती है और जिसके आत्मस्वरूपकी अचल धारणा नहीं है, उसकी नियमसे मुक्ति नहीं होती है ॥१०१॥

जन-सम्पर्कसे होनेवाले अनर्थ एवं योगीको उससे दूर रहनेका उपदेश

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥१०२॥

लोगोंके संसर्गसे वचनकी प्रवृत्ति होती है, वचनकी प्रवृत्तिसे मनमें चंचलता होती है। मनकी चंचलतासे मनमें नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं। इसलिए योगी पुरुष लौकिक जनोंके संसर्गका त्याग करे ॥१०२॥

क्या योगी मनुष्योंका संसर्ग छोड़कर वनमें वास करे?

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥१०३॥

आत्मस्वरूपके साक्षात्कारसे रहित अज्ञानी जीवोंको 'यह ग्राम है', 'यह अरण्य (वन) है' इन दो प्रकारके निवासोंकी कल्पना होती है। किन्तु आत्माके साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानीजनोंका तो रागादि-रहित निश्चल आत्मा ही निवासस्थान है ॥१०३॥

भावार्थ—ध्यानके प्रारम्भिक अभ्यासीके लिए ही यह उपदेश है कि वह जन-सम्पर्कसे दूर रहे अर्थात् एकान्त वन आदिमें निवास करे। किन्तु जिन्हें ध्यानका अभ्यास अच्छी तरह हो गया है, वे तो कहीं भी रहें, सदा ही आत्मस्वरूपकी ओर जागृत रहते हैं, उनपर जन-सम्पर्कका प्रभाव नहीं पड़ता।

संसार और मोक्षके बीज

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥१०४॥

इस शरीरमें आत्माकी भावना करना ही नये नये शरीर धारण करनेका बीज है, अर्थात् ससार वढानेका कारण है और आत्मामें आत्माकी ही भावना करना विदेहनिष्पत्ति अर्थात् मोक्षप्राप्तिका बीज है ॥१०४॥

वस्तुतः आत्माका गुरु आत्मा ही है

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव वा ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥१०५॥

आत्मा ही अपनी अज्ञान-बुद्धिके द्वारा अपने आपको जन्म-मरणरूप संसार-समुद्रमें ले जाता है और आत्मा ही अपनी विवेक-बुद्धिके द्वारा निर्वाणरूप परम निःश्रेयसमें ले जाता है, इसलिए निश्चयसे आत्माका गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं ॥१०५॥

अज्ञानी जीव ही मरणसे डरता है

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम् ॥१०६॥

शरीरादिकमें जिसकी आत्मबुद्धि दृढ़ है ऐसा अज्ञानी पुरुष अपने शरीरके नाशको और मित्रादिकके साथ वियोगको देखता हुआ मरणसे अत्यन्त डरता है ॥१०६॥

किन्तु ज्ञानी तो मरणको वस्त्र-परिवर्तन जैसा मानता है

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम्[1] ॥१०७॥

---

१. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
—भगवद्गीता

आत्मस्वरूपमें ही जिसकी दृढ़ आत्मबुद्धि है, ऐसा ज्ञानी पुरुष शरीरकी गति-आगतिको आत्मासे भिन्न मानता है, इसलिए शरीर-वियोगका अवसर आनेपर एक वस्त्रको छोड़कर दूसरे वस्त्रको धारण करनेके समान निर्भय होकर शरीरको छोड़ देता है ॥१०७॥

ज्ञानी-अज्ञानीकी जागृत-सुप्त दशाका वर्णन

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥१०८॥

जो ज्ञानी पुरुष लौकिक व्यवहारमें सोता है वह आत्माके विषयमें जागता है और जो इस लोकव्यवहारमें जागता है, वह आत्माके विषयमें सोता है ॥१०८॥

भेद-विज्ञानसे ही मुक्तिकी प्राप्ति

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥१०९॥

अन्तरंगमें आत्माके वास्तविक स्वरूपको देखकर और बहिरंग में शरीरादिक परपदार्थोंको देखकर उन दोनोंके भेद-विज्ञानसे तथा अभ्याससे यह आत्मा अच्युत होता है अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है ॥१०९॥

अब आचार्य बतलाते हैं कि भेद विज्ञानके होने पर पहले और तत्पश्चात् जीवको जगत् कैसा प्रतीत होता है—

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्काष्ठपाषाणरूपवत् ॥११०॥

जिसने आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है, उस पुरुषको पहले तो यह जगत् उन्मत्त सरीखा दिखाई देता है। पश्चात् आत्म-

ज्ञानके भली भाँति अभ्यस्त हो जानेपर वही जगत् काष्ठ-पाषाणके समान चेष्टा-रहित दिखाई देने लगता है ॥११०॥

जब तक शरीरसे आत्म-भिन्नताकी भावना नहीं की जायगी, तब तक जीव मुक्ति नहीं पा सकता—

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात् ।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥१११॥

आत्मस्वरूपको अन्यसे सुनते हुए तथा अन्यको अपने मुखसे भली भाँति बोलते हुए भी जब तक शरीरसे आत्माको भिन्न नहीं भाया जाता है, तब तक वह मोक्षका पात्र नहीं हो सकता है ॥१११॥

भेद-विज्ञानीका कर्तव्य

तथैव भावयेद्देहाद् व्यावृत्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥११२॥

शरीरसे आत्माको भिन्न करके अपनी आत्मामें आत्माकी उस प्रकार दृढ़तासे भावना करे कि जिससे यह आत्मा पुनः स्वप्नमें भी शरीरमें आत्माकी कल्पना न कर सके ॥११२॥

परम पदके अभिलाषियोंके लिए पुण्यजनक व्रत और पाप-जनक अव्रत दोनों ही त्याज्य हैं—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥११३॥

हिंसादि अव्रतोंके सेवनसे पापका संचय होता है, अहिंसादि व्रतोंके सेवनसे पुण्यका संचय होता है और पुण्य व पापके छोड़ने से मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए मोक्षके इच्छुक पुरुषको चाहिए कि अव्रतोंके समान व्रतोंको भी छोड़ देवे ॥११३॥

व्रताव्रतके परित्यागका क्रम

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥११४॥

पहले हिंसादि पाँच रूप अव्रतोंको छोड़ कर अहिंसादि व्रतोंमें निष्णात बने । पुनः आत्माका परम पद प्राप्तकर उन व्रतोंको भी छोड़ देवे ॥११४॥

भावार्थ—आचार्योंने पहले पाप रूप अशुभ प्रवृत्तिको छोड़नेका विधान किया है, पश्चात् पुण्य रूप शुभ प्रवृत्तिको भी छोड़कर शुद्धोपभोग रूप वीतराग भावके आश्रय करनेका उपदेश दिया है । अतः आत्मकल्याणके इच्छुक जनोंको इसी मार्गका अनुसरण करना चाहिए ।

अन्तरंगमें उठनेवाले संकल्प-विकल्प ही दुःखके मूल कारण

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥११५॥

अन्तरंगमें वचन-व्यापारको लिये हुए जो अनेक प्रकारकी कल्पनाओंका जाल है, वही आत्माके दुःखका मूल कारण है । उस कल्पना-जालके नाश होने पर अपने इष्ट परम पदकी प्राप्ति होती है ॥११५॥

आत्माके उत्तरोत्तर विकासका क्रम

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥११६॥

अव्रती पुरुष व्रतको ग्रहण करके व्रती बने । पुनः वह व्रती आत्मज्ञानमें परायण होकर परमात्माके ज्ञानसे सम्पन्न होवे । ऐसा करनेसे यह आत्मा स्वयं ही परमात्मा बन जाता है ॥११६॥

जिस प्रकार व्रतोंका विकल्प मोक्षका कारण नहीं हो सकता, उसी प्रकार लिंग या वेषका विकल्प भी मोक्षका कारण नहीं हो सकता, ऐसा प्रतिपादन करते है—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥११७॥

जटा धारण करना, अथवा नग्न रहना आदि लिंग (वेष) शरीरके आश्रित देखा जाता है और शरीर ही आत्माका संसार है, इसलिए जिनको लिंगका ही आग्रह है, अर्थात् बाह्य वेष धारण करनेसे ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है, ऐसा हठ है, वे पुरुष संसार से नहीं छूट पाते—उन्हें मुक्ति नहीं मिलती है ॥११७॥

जो ऐसा कहते हैं कि 'सर्व वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है' इसलिए वही परम पद-मोक्षका अधिकारी है, वे भी संसारसे नहीं छूट पाते, ऐसा बतलाते है—

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥११८॥

ब्राह्मण आदि जाति शरीरके आश्रित देखी जाती है और शरीर ही आत्माका संसार है। इसलिए जो जीव मुक्तिकी प्राप्तिके लिए जातिका हठ पकड़े हुए हैं, वे भी संसारसे नहीं छूट सकते ॥११८॥

भावार्थ—लिंग या वेषके समान जाति-वर्ण आदि भी शरीर के आश्रित हैं, इसलिए लिंग, जाति आदिका दुराग्रह रखनेवाले पुरुष मुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि, जाति, लिगादि-सम्बन्धी आग्रह भी संसारका ही पोषक दुराग्रह है ।

उक्त कथनका आगेके श्लोकसे स्पष्टीकरण

जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥११९॥

जिन जीवोंका, जाति और लिंगके विकल्पसे मुक्ति होती है, ऐसा आगम-सम्बन्धी आग्रह है, वे पुरुष भी आत्माके परम पदको प्राप्त नहीं कर सकते ॥११९॥

भावार्थ—जिन पुरुषोंका ऐसा आग्रह है कि अमुक जाति और अमुक वेषवाला ही मोक्षका अधिकारी है, अन्य नहीं, और अपने इस दुराग्रहकी पुष्टिके लिए आगमकी दुहाई देते हैं, वे पुरुष मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाते। क्योंकि जाति और लिंग रूप संसारका आग्रह रखनेवाला कैसे संसारसे छूट सकता है।

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥१२०॥

ज्ञानी जीव जिस शरीरके त्याग करनेके लिए तथा मोक्षके प्राप्त करनेके लिए विषयभोगोंसे निवृत्त होते हैं, मोही जीव उन्हीं शारीरिकभोगोंमें प्रीति करते हैं और परम-पद मोक्षमें द्वेष करते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥१२०॥

ज्ञानी-अज्ञानीकी अनुभूतिका निरूपण

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥१२१॥

आत्मस्वरूपके यथार्थ ज्ञानसे हीन अज्ञानी जीवोंको केवल सोने या उन्मत्त होनेकी अवस्था ही भ्रमरूप प्रतीत होती है, किन्तु

आत्मानुभवी अन्तरात्माको मोहाक्रान्त बहिरात्माकी सभी अवस्थाएँ भ्रमरूप प्रतीत होती हैं ॥१२१॥

भेद-विज्ञानके विना सर्व शास्त्रोंका ज्ञाता भी मुक्त नहीं हो सकता—

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥१२२॥

देहमें आत्मदृष्टि रखनेवाला अज्ञानी जीव सम्पूर्ण शास्त्रोंका जानने वाला होकर भी तथा जागता हुआ भी कर्मबन्धनसे नहीं छूट सकता। किन्तु आत्माके स्वरूपका ज्ञाता पुरुष सोता और उन्मत्त हुआ भी कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, क्योंकि उन अवस्थाओंमें भी ज्ञानी पुरुषके विवेकका अभाव नहीं होता है और आत्मानुभवकी परम्परा निराबाध चलती रहती है ॥१२२॥

सुप्त या उन्मत्त भी ज्ञानी पुरुष कैसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥१२३॥

जिस विषयमें पुरुषकी बुद्धि लगी रहती है, उसी विषयमें उसकी श्रद्धा उत्पन्न होती है और जिस विषयमें श्रद्धा उत्पन्न होती है, उस विषयमें ही मनुष्यका चित्त लवलीन हो जाता है ॥१२३॥

भावार्थ—आत्माके विषयमें चित्तकी यह संलग्नता ही सुप्त और उन्मत्त आदि अवस्थाओंमें भी अन्तरात्माको उस ओरसे परान्मुख नहीं होने देती, इसलिए ज्ञानी पुरुष सोतेमें भी आत्मसम्बन्धी स्वप्न देखता है, और दैववशात् पागल हो जानेपर भी आत्मा

की ही चर्चा किया करता है। इसी कारण वह मुक्तिको प्राप्त कर लेता है।

उक्त कथनका स्पष्टीकरण

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः॥१२४॥

जिस विषयमें पुरुषकी बुद्धि अनासक्त रहती है, उस विषयसे उसकी श्रद्धा निवृत्त हो जाती है और जिस विषयसे श्रद्धा दूर हो जाती है, फिर उसका चित्त उस विषयमें लीन कैसे हो सकता है॥१२४॥

भावार्थ—जब एक वार ज्ञानी पुरुषकी बुद्धि सांसारिक-पदार्थोंसे और विषय-भोगोंसे हट जाती है, उनमें श्रद्धा नहीं रहती, तब कर्मोदयसे विवश होकर उन भोगोंको भोगते हुए भी उनमें उसकी आसक्ति नहीं रहती है और अनासक्ति ही मुक्तिका मूल या आद्य मंत्र है।

आत्मा परमात्माकी उपासना करता हुआ कैसे स्वयं परमात्मा बन जाता है आचार्य इस बातको एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हैं—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्त्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥१२५॥

यह आत्मा अपनेसे भिन्न अर्हन्त, सिद्धरूप परमात्माकी उपासना करके उन्हींके समान परमात्मा हो जाता है। जैसे दीपकसे भिन्न भी बत्ती दीपककी उपासना कर दीपकरूप हो जाती है॥१२५॥

भावार्थ—जो जिसकी सच्चे हृदयसे निरन्तर आराधना और उपासना किया करता है, वह तद्रूप हो जाता है।

शुद्ध आत्माका चिन्तन या आराधन करनेसे आत्मा कैसे परमात्मा बन जाता है, आचार्य इस बातको भी उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते है—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥१२६॥

अथवा, यह आत्मा अपनी शुद्ध चिदानन्द रूप आत्माकी ही उपासना करके परमात्मा बन जाता है। जैसे बांसका वृक्ष, अपनेको अपनेसे ही रगड़कर अग्निरूप हो जाता है ॥१२६॥

सर्वकथनका उपसंहार करते हुए उपदेश

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥१२७॥

इस प्रकार आत्मस्वरूपकी निरन्तर भावना करनी चाहिए। ऐसा करनेसे यह जीव स्वयं ही वचनोंके अगोचर उस परम पदको प्राप्त कर लेता है, जिससे कि पुनः नहीं लौटना पड़ता है ॥१२७॥

भावार्थ—आत्म-स्वरूपकी निरन्तर भावनासे पुनरागमन-रहित मुक्तिकी प्राप्ति होती है, इसलिए ज्ञानी पुरुषोंको निरन्तर सावधान होकर और बाहरी पदार्थोंसे मुखको मोड़कर एकाग्र चित्त से आत्माके स्वरूपका चिन्तवन, मनन एवं ध्यान करते रहना चाहिए। परम शान्ति, या निर्वाण-प्राप्तिका यही एक मार्ग है और बाहरी जितना भी व्रत, तप, संयम आदिका उपदेश दिया गया है, वह एकमात्र इस चरम आदर्शरूप लक्ष्यको समझनेके लिए और

बाह्य पदार्थोंसे मोह-निवृत्तिके लिए दिया गया है। पर अन्तिम प्रयोजनभूत पदार्थ तो अपना आत्मा ही है, उसकी प्राप्तिके लिए, आत्मसाक्षात्कारके लिए जब तक मनुष्य उद्यत नहीं होता, तब तक वह संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है और जब विवेकको प्राप्त कर, आत्माके स्वरूपकी एकाग्र चित्तसे भावना-आराधना और उपासनामें तल्लीन हो जाता है, तो उसको आत्माका परम पद हस्तगत हो जाता है, जहाँ पर कि यह अनन्तानन्त काल तक उत्कृष्ट सुख-शान्तिका अनुभव करता रहता है, इसलिए आत्म-कल्याणके इच्छुक जनोंको उचित है कि यह उत्तम ममुष्य भव पाकर उसे अन्तमें दुःख देनेवाले सांसारिक पदोंके पाने और विषय-भोगोंके जुटानेमें व्यर्थ न गमावें किन्तु एक-एक क्षण को स्वर्ण-कोटियोंसे भी अधिक मूल्यवान् समझकर आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें व्यय करें।

इस प्रकार आत्मासे परमात्मा बननेका उपाय-प्रतिपादक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

परिशिष्ट

•

ग्रन्थ-संकेत-सूची

१.	अमित० श्रा०	अमितगतिश्रावकाचार
२.	आचारसा०	आचारसार
३.	आत्मानु०	आत्मानुशासन
४.	आप्तस्व०	आप्तस्वरूप
५.	इष्टोप०	इष्टोपदेश
६.	क्षत्रचू०	क्षत्रचूडामणि
७.	गुणभू०	गुणभूषणश्रावकाचार
८.	ज्ञानार्ण०	ज्ञानार्णव
९.	तत्त्वार्थसा०	तत्त्वार्थसार
१०.	पुरुषा०	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
११.	पञ्चसं० सं०	पञ्चसंग्रह संस्कृत
१२.	पञ्चाध्या०	पञ्चाध्यायी
१३.	प्रशमर०	प्रशमरतिप्रकरण
१४.	भावसं० सं०	भावसंग्रह संस्कृत
१५.	यशस्ति०	यशस्तिलक चम्पू
१६.	योगशा०	योगशास्त्र
१७.	रत्नक०	रत्नकरण्डश्रावकाचार
१८.	समयसा० क०	समयसार कलशा
१९.	समाधि०	समाधितन्त्र
२०.	सागार०	सागारधर्मामृत

श्लोकानुक्रमणिका

इस अनुक्रमणिकाके प्रथम स्तम्भमें सङ्कलित श्लोकोंका प्रथम चरण दिया गया है। दूसरे स्तम्भमें वे श्लोक जिस ग्रन्थके है, उसका नाम देकर प्रथम अंक द्वारा अध्याय, सर्ग आदि की और द्वितीय अङ्क-द्वारा श्लोक-संख्याकी सूचना की गई है। तीसरे स्तम्भमें प्रथम अङ्क-द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थके अध्यायका और द्वितीय अङ्क-द्वारा श्लोक-संख्याका निर्देश किया गया है।

अ

इ

ख

ध

धर्मकर्मफलेऽनीहो	यशस्ति० भा० २ पृ० ४१०	५,४१
धर्मध्यानासक्तो	पुरुषार्थ० १५४	४,९६
धर्ममहिंसारूपं	,, ७५	४,४८
धर्मस्य गतिरत्र स्या-	तत्त्वार्थ० ३,३०	८,१२
धर्माधर्मान्तरिक्षाणा	,, ३,१७	८,६
धर्माधर्मावथाकाशं	,, ३,२	८,१
धर्माधर्मौ नभः काल-	,, ३,१८	८,७
धर्मोऽभिवर्धनीयः	पुरुषार्थ० २७	२,१७
ध्याता ध्यानं च ध्येयं च	पंचाध्या० २,६४३	२,८५
ध्रौव्यादि कलितैर्भावैः	ज्ञानार्ण० ७,२	३,२
	न	
न जानन्ति शरीराणि	समाधि० ६१	१४,९१
न तदस्तीन्द्रियार्थेषु	,, ५५	१४,८५
न तु परदारान् गच्छति	रत्नक० ५९	४,६७
नयत्यात्मानमात्मैव	समाधि० ७५	४,१०५
नपुंसकत्वं तिर्यक्त्वं	योगशा० २,१०३	४,६५
न मे मृत्युः कुतो भीति-	इष्टोप० २९	१४,३०
नयनोत्पाटनं दीर्घं	तत्त्वार्थ० ४,१८	९,१०
न यस्य प्रतिपद्यन्ते	सं० पंचसं० १,२८	६,८
नरदेहस्थमात्मान-	समाधि० ८	१,६
नवनिधिसप्तद्वयरत्ना	रत्नक० ३८	२,११२
न विना प्राणविघातात्	पुरुषार्थ० ६५	४,३८
नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं	समाधि० ६५	१४,९६
न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्	रत्नक० ३४	२,१०८
न हि सम्यग्व्यपदेशं	पुरुषार्थ० ३८	४,२
नाङ्गहीनमलं छेत्तु	रत्नक० २१	२,२४

ब

य